श्री जवाहर-किरणावली

द्वितीय-किरण ◇ दिव्य-जीवन

[पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के
दिल्ही-चातुर्मास के कतिपय व्याख्यान]

卐

संपादक :—

पं० शोभाचंद्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक:—

सेठ चंपालालजी बांठिया, भीनासर (बीकानेर)

प्रकाशक :—

चंपालाल बांठिया

भीनासर (बीकानेर)

प्रति— १०००] प्रथमावृत्ति [मूल्य १) रुपया

[पुस्तक की आय— साहित्य-प्रकाशन में लगेगी]

वि० सं० १९९९ कार्त्तिक शुक्ला चतुर्थी

ता० १२ नवम्बर १९४२

मुद्रक :—

श्री० पन्नालाल गुप्त 'अनन्त'

आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, केसरगंज,

अजमेर

मदीयम्

हमारे देश के नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि का जो भाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, उसका एक कारण अगर पाश्चात्य शिक्षा है तो दूसरा कारण धर्मोपदेशकों की उदासीनता भी है। धर्मोपदेशक अकसर धर्म को संकीर्णता के कारागार में कैद कर रखते हैं और उसे परलोक के काम की चीज़ बताते हैं। वर्त्तमान जीवन में धर्म की क्या उपयोगिता है और किस प्रकार पद-पद पर धर्म का जीवन में समावेश होना आवश्यक है, इसकी ओर उनका लक्ष्य शायद ही कभी जाता है। संक्षेप में कहा जाय तो आज धर्म 'व्यवहार' न रह कर 'सिद्धान्त' बन गया है।

संसार में आज समाजवाद की भावना बढ़ रही है और भारत भी उस भावना का अपवाद नहीं रहा है। धर्मोपदेशक जब एकान्ततः व्यक्तिवाद की ओर आकृष्ट होकर व्यक्तिगत अभ्युदय के ही साधन रूप में धर्म की व्याख्या करते हैं, तब समाजवादी नवयुवक धर्म की ओर हिकारत भरी निगाह से देखने लगता है।

जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो पंखों की आवश्यकता है। जिस पंखी का एक पंख उखड़ जायगा वह अगर अनन्त और असीम आकाश में विचरण करने की इच्छा करेगा तो परिणाम एक ही

होगा—अधःपतन। यही बात जीवन के संबंध में है। जीवन की उन्नति प्रवृत्ति और निवृत्ति–दोनों के बिना साध्य नहीं है। एकान्त निवृत्ति निरी अकर्मण्यता है और एकान्त प्रवृत्ति चित्त की चपलता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात्-अशुभ से निवृत्त होना और शुभ में प्रवृत्ति करना ही सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यक् चारित्र ही धर्म है; इस कथन को सामने रखकर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप है। 'अहिंसा' निवृत्ति भेद है पर उसकी साधना विश्वमैत्री और समभावना को जागृत करने रूप प्रवृत्ति से ही होती है। इसीसे अहिंसा व्यवहार्य बनती है। किन्तु हमें प्रायः जीवघात न करना सिखाया जाता है, पर जीवघात न करके उसके बदले करना क्या चाहिए; इस उपदेश की ओर उपेक्षा बताई जाती है।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के व्याख्यानों में इन त्रुटियों की पूर्त्ति की गई है। उन्होंने धर्म को व्यवहार्य, सर्वांगीण और प्रवर्त्तक रूप देने की सफल चेष्टा की है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा उन्होंने शास्त्रों का जो नवनीत जनता के समक्ष रक्खा है, निस्संदेह उसमें संजीवनी शक्ति है। उनके विचारों की उदारता ऐसी ही है जैसे एक मार्मिक विद्वान् जैनाचार्य की होनी चाहिये।

आचार्य की वाणी में युगदर्शन की छाप है, समाज में फैले हुए अनेक

धर्म संबंधी मिथ्या विचारों का निराकरण है, फिर भी वे प्रमाणभूत शास्त्रों से इञ्च मात्र इधर-उधर नहीं होते। उनमें समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है। वे प्रत्येक शब्दावली की आत्मा को पकड़ते हैं और इतने गहरे जाकर चिन्तन करते हैं कि वहाँ गीता और जैनागम एकमेक से लगते हैं।

गृहस्थजीवन को अत्यन्त विकृत देखकर कभी-कभी आचार्य तिल-मिला उठते हैं और कहते हैं—'मित्रो ! जी चाहता है, लज्जा का पर्दा फाड़कर सब बातें साफ़-साफ़ कह दूँ।' नैतिक जीवन की विशुद्धि हुए बिना धार्मिक जीवन का गठन नहीं हो सकता, पर लोग नीति की नहीं, धर्म की ही बात सुनना चाहते हैं। आचार्य उनसे साफ़-साफ कहते हैं–लाचारी है मित्रो ! नीति की बात तुम्हें सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नहीं हो सकती। और वे नीति पर इतना ही भार देते हैं, जितना धर्म पर।

आचार्य के प्रवचन ध्यानपूर्वक पढ़ने पर विद्वान् पाठक यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि व्यवहार्य धर्म की ऐसी सुन्दर, उदार और सिद्धान्तसंगत व्याख्या करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

आचार्यश्री अपने व्याख्येय विषय को प्रभावशाली बनाने के लिये और कभी-कभी गूढ़ विषय को सुगम बनाने के लिए कथा का आश्रय लेते हैं। कथा कहने की उनकी शैली निराली है। साधारण से साधारण कथानक में वे जान डाल देते हैं। उसमें जादू-सा चमत्कार आ जाता है। उन्होंने अपनी सुन्दरतर शैली, प्रतिभामयी भावुकता एवं विशाल अनुभव की

सहायता से कितने ही कथा-पात्रों को भाग्यवान् बना दिया है। 'सव्वा कला धम्मकला जिणइ' अर्थात् धर्मकला समस्त कलाओं में उत्कृष्ट है, इस कथन के अनुसार आचार्यश्री की कथाएँ उत्कृष्ट कोटि की कला की निदर्शन हैं। वे प्रायः पुराणों और इतिहास में वर्णित कथाओं का ही प्रवचन करते हैं पर अनेकों बार सुनी हुई कथा भी उनके मुख से एकदम मौलिक-अश्रुतपूर्व-सी जान पड़ने लगती है।

आचार्य के उपदेश की गहराई और प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण है, उनके आचरण की उच्चता। वे उच्चश्रेणी के आचारनिष्ठ महात्मा हैं।

आचार्यश्री के प्रवचनों का उद्देश्य न तो अपना वक्तृत्व-कौशल प्रकट करना है और न विद्वत्ता का प्रदर्शन करना यद्यपि उनके प्रवचनों से उक्त दोनों विशेषताएँ स्वयं झलकती हैं। श्रोताओं के जीवन को धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊंचे उठाना ही उनके प्रवचनों का उद्देश्य है। यही कारण है कि वे उन बातों पर बारम्बार प्रकाश डालते नज़र आते हैं जो जीवन की नींव के समान हैं। इतना ही नहीं, वे अपने एक ही प्रवचन में अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं। उनका यह कार्य उस शिक्षक के समान है जो अबोध बालक को एक ही पाठ का कई बार अभ्यास करा कर ऊंचे दर्जे के लिये तैयार करता है।

विश्वास है यह प्रवचन-संग्रह पाठकों को अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा। इस संग्रह के प्रकाशन की आज्ञा देने वाले श्री हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम और प्रकाशक सेठ चम्पालालजी बांठिया, भीनासर, के प्रति हम पाठकों की ओर से कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं।

सम्पादन करते समय मूल व्याख्यानों के भावों का और भाषा का ध्यान रक्खा गया है फिर भी वह छद्मस्थ ही कैसा जो अभ्रान्त होने का दावा करे ? अगर कहीं भाव-भाषा संबंधी अनौचित्य दिखाई पड़े तो उसका उत्तरदायित्व सम्पादक के नाते मुझ पर है।

'जवाहर किरणावली' की तीसरी किरण भी साथ ही प्रकाशित हो रही है। अभी मुझे सूचना मिली है कि बीकानेर की श्री श्वे. सा. जैन हितकारिणी संस्था ने पूज्यश्री का उपलब्ध साहित्य प्रकाशित करना तय किया है। हितकारिणी संस्था का यह पुण्य निश्चय बधाई के योग्य है। आशा है इस किरणावली की अनेक किरणें भी शीघ्र पाठकों को हस्तगत होंगी।

जैन-गुरुकुल, ब्यावर,
दीपावली, १९९९.

शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ.

प्रकाशक की ओर से

परमप्रतापी जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान, रत्नों की खान हैं। उन में से कुछ रत्न निकाल कर प्रकाशित करने की इच्छा मेरे हृदय में बहुत दिनों से थी। किन्तु सामने किसी प्रकार की योजना न होने से वह कार्य यों ही पड़ा रहा।

सम्वत् १९९८ के प्रारम्भ में पूज्यश्री बीकानेर की ओर पधारे और चतुर्मास भीनासर में किया। चिरकाल से अस्वस्थ होने के कारण उस समय आप बहुत अशक्त हो गये थे और व्याख्यान देना बन्द कर दिया था। पन्द्रह साल पहले इसी भीनासर में जिन महापुरुष के उपदेशामृत का पान करके हजारों व्यक्ति अपने को धन्य मानते थे, उन्हें इस प्रकार चुप देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरे कानों में उस समय के शब्द अब भी गूंज रहे थे और मैं चाहता था कि इन का अधिक से अधिक प्रचार हो। पूज्यश्री को मौन देख कर यह इच्छा और भी प्रबल हो उठी।

मैंने पहले पहल सन् १९३१ में देहली चतुर्मास के समय दिए गए पूज्यश्री के व्याख्यानों को चुन-चुन कर प्रकाशित करने का निश्चय किया, किन्तु योग्य सम्पादक न मिलने से वह विचार कार्य-रूप में परिणत न हो सका।

[सेठ चम्पालाल जी बांठिया
का सुपुत्र कुँवर शान्तीलाल बांठिया
भीनासर (बीकानेर)]

गत वर्ष ब्यावर गुरुकुल के प्रधानाध्यापक पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इस कार्य को अपने हाथ में ले लिया और अपने कार्यों में विक्षेप सहकर भी इसे शीघ्र पूरा कर दिया। इसके लिए मैं पण्डितजी का विशेष आभार मानता हूँ।

बादलों का पानी और महात्माओं के उपदेश बरसते समय किसी की सम्पत्ति नहीं होते। उन पर सभी का समान अधिकार होता है। फिर भी जो व्यक्ति उनका संग्रह करता है उसका अधिकार संग्रहीत अंश पर अवश्य मानना पड़ता है। इसी दृष्टि से पूज्यश्री के व्याख्यानसंग्रहों पर श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम का अधिकार है। उनमें से कुछ बूंदें लेकर प्रकाशित करने की उदार स्वीकृति देने के लिए मैं मण्डल का भी आभारी हूँ।

छपाई और कागजों की कीमत कितनी ऊँची चढ़ गई है, यह पाठकों से छिपा नहीं है। पुस्तक पर जितनी कीमत रखी गई है लगभग उतना ही खर्च आ गया है। इतनी कीमत रखने में दो कारण हैं। पहला यह कि बिना मूल्य बाँटी गई धार्मिक पुस्तकों का सत्कार नहीं होता। लोग उन्हें ले तो लेते हैं, किन्तु घर जाते ही किसी कोने में फैंक देते हैं। इससे पुस्तक प्रकाशित करने वाले या लिखने वाले का ध्येय पूरा नहीं होता। वह तो यही चाहता है कि लोग पुस्तक को अधिक से अधिक पढ़ें और उससे जहाँ तक हो सके अधिक लाभ उठायें। इसी प्रचार के लिए कीमत को बाधक मान कर बहुत से सज्जन पुस्तक का मूल्य नहीं रखते। किन्तु अनुभव में उल्टा परिणाम देखने में आया है। पैसे खर्च कर ली

हुई पुस्तक को लोग पढ़ते हैं और बिना मूल्य प्राप्त हुई को यों ही फैंक देते हैं। इसीलिए मुझे कीमत रखना उचित जँचा।

दूसरी बात यह है कि मेरी इच्छा इस कार्य को इन्हीं पुस्तकों में पूरा कर देने की नहीं है। मैं चाहता हूँ, इनसे जो आय हो उसे फिर ज्ञान-प्रचार में लगाया जाय। इससे थोड़े धन में क्रमशः साहित्य का अधिक प्रकाशन हो सकेगा। इस दृष्टि से भी कीमत रखना उचित समझा गया।

आशा है, साहित्य प्रचार की दृष्टि से ये दोनों बातें पाठकों को उचित मालूम पड़ेंगी।

पुस्तक कैसी बनी है, यह पाठकों पर छोड़ता हुआ मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि इसी प्रकार पूज्यश्री के प्रति सेवा तथा धर्म-प्रचार का अवसर मिलता रहे।

कार्तिक शुक्ल चतुर्थी
संवत् १९९९
भीनासर (बीकानेर)

—चम्पालाल बांठिया

श्री जवाहर किरणावली

द्वितीय किरण — दिव्य-जीवन

दिव्य-जीवन :: विषयानुक्रम

परमात्मध्यान

प्रार्थना

विश्वसेन नृप अचला पटरानीजी,

तसु सुत कुल-सिणगार हो सुभागी।

जन्मतां शांति करी निज देश में,

मृगी मार निवार हो सुभागी॥

शांति जिनेश्वर साहब सोलमा॥ १॥
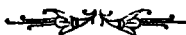
श्रीशान्तिनाथ भगवान् की यह प्रार्थना की गई है। भगवान् का नाम क्या है, इससे भक्त को कोई प्रयोजन नहीं

होता। भक्त-जन नाम की पूजा नहीं करते। उन्हें तो गुणों से मतलब होता है। जिन का आत्मा समस्त प्रकार के समस्त दोषों से रहित और समस्त आत्मिक गुणों से सहित है, अतएव जो आत्मा की सर्वोत्कृष्ट स्थिति रूप 'परमात्मा' पद को प्राप्त कर चुके हैं, उन परमात्मा के अनन्त नाम हैं और यों उनका कोई नाम ही नहीं है। प्रत्येक नाम शब्द-रूप होता है और किसी भी शब्द में परमात्मा के पूर्ण स्वरूप से परिचित करा देने का सामर्थ्य नहीं है। अतएव परमात्मा का वास्तव में कुछ भी नाम नहीं है। फिर भी बिना नाम के भक्ति नहीं होती, अतएव किसी न किसी नाम का अवलम्बन लेकर भक्ति करनी पड़ती है।

आत्मा का स्वरूप भी परमात्मा के समान ही है, इसलिए परमात्मा को रट कर आत्मा अपने स्वभाव को—अपने असली रूप को प्रकट कर लेता है। परमात्मा के रटने से आत्मा का असली स्वरूप प्रकट हो जाना, परमात्मा के ध्यान की महिमा का कारण है। परमात्मा के ध्यान से आत्मा का परमात्मा बन जाना कोई अद्भुत बात नहीं है। संसार के साधारण कार्यों का सतत् अभ्यास करने वाला मनुष्य भी अभ्यास से उनमें कुशल होजाता है। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य जिस प्रकार का बनने का प्रबल संकल्प करता रहता है, वैसा ही बन जाता है। फिर आत्मा का परमात्मा बन जाना तो स्वाभाविक विकास है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा मूलतः एक समान स्वभाव वाले हैं। दोनों में जो भिन्नता है वह ऊपरी है, औपाधिक है, बाह्य कारणों से उत्पन्न हो गई है। उस उपाधि के हट जाने पर भिन्नता आप ही हट जाती है। लेकिन अनादि कालीन कर्म रूप

उपाधि को हटाने के लिए प्रगाढ़ श्रद्धा और प्रबल पुरुषार्थ की अपेक्षा है। गीता में कहा है:—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।

पुरुष श्रद्धा की मूर्ति है। जिस पुरुष की जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही बन जाता है। सांसारिक प्रपंचों सम्बन्धी श्रद्धा रखने वाला पुरुष सांसारिक बन जाता है और परमात्मा संबंधी श्रद्धा रखने वाला परमात्मा बन जाता है। पुरुष होकर सदा स्त्रीत्व की भावना करने वाला पुरुष स्त्री-सरीखा बन जायगा। इसी प्रकार स्त्री यदि पुरुषत्व की प्रबल भावना करे तो उसके स्वभाव में पुरुषत्व-सा जाग उठेगा। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा ध्यान करेगा, वैसा ही बन जायगा।

आतम परमातम पद पावे, जो परमातम से लय लावे।
सुनके शब्द कीट भृंगी का, निज तन मन की सुधि विसरावे॥
देखहु प्रगट ध्यान की महिमा, सोऊ कीट भृंग हो जावे॥ आ०॥

आत्मा को परमात्म-पद पर पहुँचाने का उपाय, आत्मा को परमात्मा के ध्यान में तल्लीन कर देना है। जब ध्यान द्वारा आत्मा, परमात्मा के 'स्वरूप' में निमग्न हो जाता है तब वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि परमात्मा के ध्यान में निमग्न होने से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है, इसका प्रमाण क्या है ?

जो उपदेश दिया जाता है वह विश्वास उत्पन्न करने के लिए। यदि श्रोताओं के हृदय में पर्याप्त मात्रा में विश्वास हो तो

फिर उपदेश की आवश्यकता ही न रहे। विश्वास उत्पन्न करने के लिए ज्ञानी जन अपने उपदेश में ऐसे प्रमाणों का समावेश करते हैं, जिन पर विचार करने से उन्हें उपदेश पर विश्वास हो जाय। विश्वास होने पर श्रद्धा होगी ही।

'जैसी श्रद्धा होती है, जैसा ध्यान किया जाता है, वैसा ही पुरुष बन जाता है।' इस बात को सिद्ध करने के लिए, तथा परमात्मा के ध्यान से आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जाता है, यह बताने के लिए ज्ञानियों ने एक उदाहरण कीट-भृंग का दिया है। लोक में प्रसिद्ध है कि भ्रमरी के शरीर में गर्मी बढ़ जाने से भ्रमरी सहज ही गीली मिट्टी में पड़ जाती है। प्राणी में यह स्वभाव है कि एक काम करते-करते, जब वह उकता जाता है तब उसे दूसरा काम करने में आनन्दानुभव होता है। इसी के अनुसार भौंरी गीली मिट्टी में से उसका सार निकालती है और अपना घर बना लेती है। यद्यपि भौंरी गीली मिट्टी में पड़ती है गर्मी के कारण, लेकिन साथ ही वह अपना घर बनाने का काम भी कर लेती है।

आज मनुष्य अपनी उद्योगशीलता को भूल गये हैं, पर पशु-पक्षी अब भी सदा की भाँति उद्योगशील देखे जाते हैं। मनुष्यों सरीखा आलस्य उनमें प्रायः नहीं पाया जाता। यही कारण है कि मनुष्य जितना परावलम्बी बन गया है, पशु-पक्षी उतने परावलम्बी नहीं हैं।

हाँ, तो गीली मिट्टी का सार निकाल कर भौंरी उससे अपना घर बना लेती है। वह अपने घर में अलग-अलग खाने

भी बनाती है। वह उस घर में जाने-आने के लिए छोटा-सा मार्ग भी रखती है। इतना सब कुछ कर चुकने पर भौंरी लटों को पकड़-पकड़ कर लाती है और अपने घर में दबा देती है और ऊपर से फिर मिट्टी लगा देती है। ग्रन्थकारों का कथन है कि भौंरी १७ दिन तक लट को अपने घर में दबा रखती है और फिर आप ही उसे फोड़ती है। १७ दिन बाद भौंरी अपने घर में दबी हुई लट को निकालती है तो वह लट भौंरी के ही रूप में निकलती है। जो लट पहले पेट घिस कर चलती थी वही अब उड़ने लगती है और आसमान की सैर करती है।

इसका कारण यह बताया जाता है कि भौंरी उस घर के ऊपर, जिसमें लट दबी रहती है, बैठकर भूँ-भूँ शब्द करती रहती है। लट दूसरी ओर से ध्यान हटा कर भौंरी के शब्द का ध्यान उसी प्रकार करती है जैसे गुफा में बैठ हुआ योगी परमात्मा का ध्यान करता है। बस, भौंरी के शब्द में ध्यान रखने के प्रताप से ही लट, भौंरी बन कर आकाश में उड़ने वाली बन जाती है।

विचार करो कि और जगह से ध्यान हटा कर, भृंगी के शब्द पर ध्यान लगाने से लट भी भृंगी बन जाती है। ध्यान की ऐसी महिमा है। तो आत्मा सब उपाधियों को छोड़ कर एकाग्र चित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाए तो स्वयं परमात्मा क्यों न बन जायगा ?

यद्यपि ऊपर कही हुई बात ज्यों की त्यों मान लेने में सिद्धान्त से बाधा आती है, क्योंकि लट दो इन्द्रियों वाला प्राणी है और भृंगी चार इन्द्रियों वाला। दो इन्द्रियों वाला जीव

उसी शरीर में रहता हुआ चार इन्द्रिय वाला नहीं बन सकता। लेकिन दो इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले—दोनों प्रकार के जीव असंज्ञी हैं। असंज्ञी-शरीर वैसा ही बना रहता है, दूसरा नहीं बनता, यह बात जैनशास्त्र में नहीं बतलाई है। अतएव यह मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती कि एक शरीर से दूसरा शरीर बन सकता है। यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य के शरीर से जो मल निकलता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। पहले वह मल शरीर रूप ही था और फिर उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। यही एक शरीर से दूसरा शरीर बनना है। पेट में कीड़ों का पड़ना कौन नहीं जानता ? अगर सभी जानते हैं तो यह एक शरीर से दूसरे शरीर का बनना कहलाया या नहीं ? मवाद में कीड़े पड़ जाने के विषय में भी यही बात है। पुद्गलों का स्वभाव विचित्र है। उसमें नाना प्रकार के आश्चर्यजनक रूपान्तर होते रहते हैं। ये रूपान्तर इतने विचित्र और विरूप होते हैं कि दो रूपों में एक पुद्गल की विद्यमानता की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। पानी का शरीर पुद्गल है और उससे विद्युत्-शरीर का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में एक शरीर रूपान्तर को प्राप्त हो कर यदि दूसरा शरीर बन जाता है तो कुछ भी अचरज की बात नहीं है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि लट का जीव ही भृंगी बन जाता है। हो सकता है कि जीव दूसरा हो, परन्तु शरीर से लट का भृंगी बन जाना असंभव नहीं है। इसके अतिरिक्त दृष्टान्त सदैव किञ्चित् सादृश्य को लिये हुए होता है; पूर्ण सादृश्य हो तो वह दृष्टान्त नहीं हो सकता।

फिर भी ध्यान के निमित्त से होने वाले परिवर्त्तन की बात में इससे बाधा नहीं आती। अतएव यह कहा जा सकता है कि ध्यान के प्रताप से लट भी भृंगी बन जाती है तो परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा क्यों न बन जायगा ?

मगर यह देखो कि आत्मा किसका ध्यान कर रहा है और क्या हो रहा है।

सांसारिक जड़ पदार्थों का ध्यान करते-करते यह चैतन्य आत्मा भी जड़-सा बन गया है। यद्यपि आत्मा और संसार के जड़ पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन उन जड़ पदार्थों से आत्मा का ऐसा मोहाकर्षण हो गया है कि आत्मा अपने आपको उनसे अभिन्न समझने लगा है। विचार कर देखो कि रुपया क्या है और आत्मा क्या है ? रुपया जड़ है। वह कट सकता है, घिस सकता है, नष्ट हो सकता है और एक के पास से दूसरे के पास जा सकता है। आत्मा चैतन्य है। आत्मा कट नहीं सकता, घिस नहीं सकता और कभी नष्ट नहीं हो सकता। फिर भी लोग सिक्के से प्रेम करते हैं, उसे अपनाते हैं और उसके बिना जीवन निस्सार समझते हैं।

आखिर लोग सिक्के को क्यों इतना चाहते हैं ? उससे इतना प्रेम क्यों करते हैं ? उसके लिए अपना जीवन भी विपद् में क्यों डाल देते हैं ? उसके उपार्जन के लिए अधर्म और अन्याय करते भी क्यों नहीं झिझकते ? हे रुपैया, तुझमें ऐसा कौन-सा बड़ा आकर्षण है ? तू ने आँख वालों को भी अन्धा कैसे बना दिया है ? बड़े-बड़े विद्वान् और विद्यावान् भी तेरे आगे नत-

मस्तक क्यों हो जाते हैं ? तू ने जगत पर क्या जादू चलाया है ?

वास्तव में सिक्के के प्रति जनता के मोह का प्रधान कारण है—आत्मा के द्वारा जड़ का ध्यान करना। मोही आत्मा निरन्तर जड़ पदार्थों का ध्यान किया करता है, अतएव वह जड़-वत् बन गया है। इसी कारण जड़ को त्यागने में आत्मा अत्यन्त असाता का अनुभव करता है। यह सब जड़ के ध्यान का प्रताप है। जड़ का ध्यान, आत्मा में आर्त्ति उत्पन्न करता है। अतएव वह ध्यान आर्त्तध्यान बन जाता है।

जड़ के ध्यान से आत्मा जड़वत् बन जाता है तब भी, और समस्त शास्त्र परिग्रह की निन्दा करते हैं फिर भी, जड़ परि-ग्रह से आत्मा का इतना प्रेम क्यों है ? इसका कारण यह है कि आत्मा में अभी आर्त्तध्यान बना है, इसी कारण वह जड़ के प्रति इतना अनुरागी है। लोग समझते हैं—बिना सिक्के के रोटी-कपड़े का काम कैसे चलेगा ? इस रोटी-कपड़े के आर्त्तध्यान से बचने के लिए सिक्के की शरण में गये। लेकिन सिक्के की शरण में जा कर भान भूल गये और दूसरे आर्त्तध्यान में पड़ गये। यदि रोटी-कपड़े के आर्त्तध्यान से बचने के लिए धर्म-ध्यान की शरण ली जाय—सिक्के से प्रेम न किया जाय, तो आत्मा एक आर्त्तध्यान से निकल कर दूसरे आर्त्तध्यान में न फँसे।

इस सब कथन पर भली भाँति विचार करो और यह देखो कि आत्मा को किस से प्रेम करना चाहिए ?

हे आत्मन् ! तू सच्चिदानन्द है। तेरे प्रेम करने योग्य सच्चिदानन्द परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है।

यह मत सोचो कि ईश्वर तो कभी दिखता नहीं है, उससे प्रेम किस प्रकार किया जाय। अगर ईश्वर नहीं दिखता तो संसार के प्राणी तो दिखाई देते हैं न? जगत् का प्रत्येक प्राणी, कीड़ी से लगा कर कुंजर तक, समान है। इस तत्त्व पर विचार करोगे तो ईश्वर से प्रेम करने की बात असम्भव न लगेगी। ईश्वर नहीं दिखता, न सही; संसार के प्राणियों की ओर देखो और उन्हें आत्म-तुल्य समझो। सोचो-जैसा मैं हूँ, वैसे ही यह हैं। इस प्रकार इतर प्राणियों को अपने समान समझने से शनैः शनैः ईश्वर का साक्षात्कार होगा—परमात्म तत्त्व की उपलब्धि होगी—आत्मा स्वयं उस शुद्ध स्थिति पर पहुँच जायगा।

इस प्रकार विचार करने से मालूम होगा कि आत्मा से समानता रखने वाला प्राणी है या पैसा है?

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का ध्यान करने से आत्मा स्वयं ईश्वर बन जाता है; पर जब तक ईश्वरत्व की अनुभूति नहीं होती तब तक प्राणियों को ही ईश्वर के स्थान पर आरोपित कर लो। संसार के प्राणियों को आत्मा के समान समझने से, दृष्टि ऐसी निर्मल बन जायगी कि ईश्वर को भी देखने लगोगे और अन्त में स्वयं ईश्वर बन जाओगे। यह कथन जैन दर्शन का ही नहीं है किन्तु अन्य दार्शनिकों का भी यही कथन है। गीता में कहा है—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन!
> सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥
>
> अध्याय ६, ३२.

जो योगी या परमयोगी कहलाने वाला पुरुष ध्यान—मौन में परायण होकर आत्मा-परमात्मा का ध्यान नहीं करता, वह संसार में भार-रूप है। संसार के जीवों में साम्यभाव हुए बिना कोई योगी नहीं कहला सकता। वही सच्चा योगी है जो प्राणीमात्र को अपने समान समझता है—उन्हें आत्मौपम्य बुद्धि से देखता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही और प्राणी भी हैं, इस प्रकार अनुभव करके जो दूसरे के सुख-दुःख को अपने ही समान समझता है और सब के प्रति समभाव-पूर्वक व्यवहार करता है; अर्थात् जिस बात से मुझे दुःख होता है, उससे अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है, दुःख जैसे मुझे अप्रिय है वैसे ही औरों को भी अप्रिय है, जैसे मुझे सुख की अभिलाषा है, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख के ही अभिलाषी हैं, इस प्रकार आत्मौपम्य बुद्धि से समस्त प्राणियों को देखने वाला और ऐसा ही व्यवहार करने वाला सच्चा योगी है।

जैनधर्म भी यही कहता है—

> जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥

अर्थात् जो समस्त त्रस—जंगम और स्थावर—प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी के सामायिक होती है। यह कथन सर्वज्ञ भगवान् का है।

मित्रो ! यह अपने घर की साक्षी है और गीता पराये घर की साक्षी थी। दोनों साक्षियों से इस बात में सन्देह तो नहीं रहा कि परमात्मा के न दिखने पर भी संसार के समस्त प्राणियों

को आत्मतुल्य मानने से परमात्मपद की प्राप्ति हो सकती है। जगत् के जीवों को आत्मतुल्य मानने की भावना जब कार्य रूप में परिणत हो जाती है तब चारित्र स्वतः प्राप्त हो जाता है और सिद्धि समीप ही आ जाती है। ऐसा करने पर फिर चाहे परमात्मा का नाम न लो, तब भी भावना की विशुद्धि सिद्धि प्रदान करती है।

कल्पना करो कि तुम्हें परमात्मा मिल गया। तो वह तुम्हें क्या कहेगा ? त्रस—स्थावर जीवों में समभाव रखना, यही परमात्मा का कथन है। 'इह केवलिभासियं।' क्या इस कथन से विपरीत कुछ सुनने की उससे आशा करते हो ? अगर नहीं, तो फिर परमात्मा के मिलने की प्रतीक्षा न करके उसके आदेश का पालन करो। उसके आदेश का पालन न करते हुए अगर पहले उसके साक्षात्कार का हठ पकड़े बैठे रहोगे, तो सौभाग्य से प्राप्त हुआ सुअवसर हाथ से निकल जायगा और पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा। परमात्मा का साक्षात् या परमात्मपद की उपलब्धि तो अंतिम मंजिल है और वहाँ पहुँचने के लिए आत्मौपम्य या सर्वजीवसमभाव मार्ग है। इस मार्ग पर चले बिना अन्तिम मंजिल तक कैसे पहुँच पाओगे ? सो अगर तुम परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति का अनन्त, अव्याबाध, असीम और अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव करना चाहते हो तो उस मार्ग पर अग्रसर होओ, जिसे अभी बतलाया गया है।

कई लोग तुम्हें परमात्मा के आदेश के नाम पर भुलावे में डाल सकते हैं। जगत् में नाना मत और पंथ हैं। उनमें अनेक

परस्पर विरोधी बातें भी मान्य की गई हैं । ऐसी अवस्था में कदाचित् तुम संदेह के चक्कर में पड़ सकते हो । शायद तुम इस निर्णय पर नहीं पहुँच सकते कि परमात्मा का आदेश किसे मानें और किसे न मानें ? इस प्रकार की और भी अनेक शंकाएँ तुम्हारे अन्तःकरण में उत्पन्न हो सकती हैं ।

इन शंकाओं का कब और कैसे समाधान हो ? सब शास्त्रों को देख कर ऐसी शंकाओं का निवारण करना भी असंभव-सा है । सब शास्त्रों का सार निकालने को अनेक जन्म धारण किये जाएँ तब भी पार नहीं पड़ने का । मगर याद रखो, सत्य के सामने कोई जंजाल या धूर्तता सफल नहीं हो सकती । जिस प्रकार लकड़ी में लगी हुई हीरे की छोटी-सी कनी भी मोटे से मोटे काच को काट डालती है, उसी प्रकार ज्यों ही तुम सत्य की शरण में जाओगे त्यों ही तुम्हारा आत्मा जंजाल एवं धूर्तता की बात को काटने के लिए हीरे के समान हो जायगा । फिर तुम्हारे आगे झुठाई टिक नहीं सकेगी ।

काँटों से बचने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी को चमड़े से मढ़ा नहीं जाता । ऐसा करना संभव भी नहीं है । इसी प्रकार सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए संसार के समस्त पोथे पलटने की आवश्यकता नहीं है । पैर में जूता पहनने वाले के लिए सम्पूर्ण भूतल चमड़े से मढ़ा हुआ-सा बन जाता है । इसी प्रकार जिस पुरुष के पास सम्यक् विवेक है उसके लिए सत्य-असत्य की समस्या सहज ही हल हो जाती है । विवेक वह कसौटी है जिस पर सत्य-असत्य की परख होती है ।

जब तुम्हारे सामने इस प्रकार उलझन पैदा हो जाय तो अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करो। कोई अपना कपड़ा दो सौ गज बतलाता है; लेकिन तुम्हारे पास गज मौजूद है तो उस कपड़े को नाप ही क्यों नहीं लेते ? अगर उसे नाप लोगे तो न तो ठगे जाओगे और न संदेह ही रहेगा। जैसे सुवर्ण को कसौटी पर कसा जाता है उसी प्रकार धर्म को भी कसौटी पर कस लो। धर्म की कसौटी आत्मा है। आत्मा रूपी कसौटी पर कसने से जो धर्म खरा उतरे—जो बात आत्मानुमोदित हो, उसे स्वीकार कर लो और जो बात खोटी साबित हो उसे फैंक दो।

कल्पना करो, तीन आदमी हैं। एक आदमी दूसरे आदमी को पीट रहा है और तीसरा आदमी चुपचाप खड़ा देख रहा है। यह भी कल्पना करलो कि पिटने वाले तुम्हीं हो और दूसरा आदमी तुम्हीं को पीट रहा है। अब बताओ दूसरे आदमी को तुम क्या समझोगे ? अगर पापी समझोगे तो किसी के कहने से उसे पापी समझोगे या अपने ही अनुभव से ?

'अपने अनुभव से !'

ठीक है, मारने वाला अपने ही अनुभव से पापी मालूम होगा। उसे पापी मानने के लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी। पर वह तीसरा आदमी, जो चुपचाप खड़ा देख रहा है, उसके विषय में तुम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उसके हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम है या नहीं ? यह निश्चय तो उसके व्यवहार से हो सकता है। जब तक उसका कोई व्यव-

हार दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक उसके संबंध में कुछ भी निश्चय नहीं किया जा सकता। कौन कह सकता है कि चुपचाप खड़ा हुआ आदमी क्या सोच रहा है ? हो सकता है कि वह सोच रहा हो कि—'न मारे तो अच्छा।' और यह भी संभव है कि वह मन ही मन मारने वाले का अनुमोदन कर रहा हो।

इसी समय चौथा आदमी वहाँ आ पहुँचता है। वह मारने वाले से कहता है—'इसे जान से मार डालना ही ठीक है। जब तक इसे मार न डालोगे तब तक काम नहीं चलेगा।'

संसार में बहुत-से लोग निर्बल को सबल की खुराक समझते हैं। उनका खयाल है—'हम निर्बलों के गले काट कर ही सुखी हो सकते हैं।' लोगों ने यह मान भले ही रक्खा हो, लेकिन यह मानना राक्षसतापूर्ण है। किसी शेर से पूछो—'हिरण किस लिए बने हैं ?' तब वह कहेगा—'मेरी खुराक के लिए। मैं इन्हें मार कर खाने के कारण ही मृगराज कहलाता हूँ।' ऐसी हालत में निर्बल के गले काटने का सिद्धान्त मनुष्यों का रहा या पशुओं का ?

'पशुओं का !'

हाँ, तो चौथा आदमी उस मारने वाले से कहता है—'इसे मार डाल। इसे मार डालने से अमुक-अमुक लाभ हैं।'

चौथे आदमी की बात आपने भी सुनी। आप आत्मानुभव से उसके वचनों को कैसा समझेंगे ?

'पशुतापूर्ण !'

और चौथा आदमी आपको कैसा लगेगा ?

'अनार्य ! राक्षस !'

लेकिन वह आदमी यह भी कहता जाता है कि यह बात मैं अपनी इच्छा से नहीं कहता, शास्त्र की आज्ञा ही ऐसी है। अपने इस कथन की पुष्टि में वह शास्त्र के प्रमाण भी उद्धृत कर देता है तो वह शास्त्र आपको शास्त्र प्रतीत होगा या शस्त्र ?

'शस्त्र !'

अच्छा तो बताइए आपने यह निर्णय कैसे किया ?

'आत्मा से !'

आत्मा से ही आपने उस शास्त्र की असत्यता समझी है। आत्मा स्वयं बोल उठता है कि यह आदमी अनार्य है। तात्पर्य यह है कि उस आदमी को और उसके दिए हुए प्रमाणों को मिथ्या और नीच ठहराने के लिए किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं हुई, वरन् आत्मा ने अपने अनुभव से स्वयं यह निर्णय किया है।

इतने में ही एक आदमी वहाँ आ पहुँचता है। इस पाँचवें मनुष्य ने मारने वाले से कहा—'मत मार ! किसी जीव को कष्ट न पहुँचाना ही सब धर्मों का सार है। इस कथन की पुष्टि के लिए मैं चाहे जितने प्रमाण उपस्थित कर सकता हूँ। किसी भी प्राणी की हिंसा न करने में अनन्त कल्याण है। जैसी तेरी आत्मा है वैसी ही इसकी है ! जैसा तू, वैसा ये। जैसे तेरे कान-नाक-आँख आदि अवयव हैं वैसे ही इसके हैं। शरीर के इन उपयोगी अवयवों में से तू एक भी अवयव का किञ्चित् भाग भी नहीं बना सकता। जिस वस्तु का बनाना तेरे सामर्थ्य से बाहर

है उसे नष्ट करने का तुझे क्या अधिकार है ? जैसे तुझे सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है, उसी प्रकार इसे भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है। अतएव इसे मत मार—इसे पीड़ा भी न पहुँचा। जीवों को न मारने के विषय में सब शास्त्रों में जो कुछ लिखा है उसका सार यह है—

एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

समस्त शास्त्रों का—सम्पूर्ण ज्ञान का सार इतना ही है कि किसी जीव की हिंसा न करे। अहिंसा ही परम सिद्धान्त है।

वास्तव में यही सब शास्त्रों का सार है। यदि किसी को दही बिलोकर मक्खन निकालते न आता हो और उसे सीधा ही मिल जावे तो यह उसके भाग्य की बड़ाई है। इसी के अनुसार ज्ञानी जन कहते हैं कि सब ग्रंथ और पोथे न पढ़े तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन उनका सार समझ लेना चाहिए। सब का सार इतना ही है कि किसी जीव को मत मारो। इतने में ही सब धर्म-कर्म का समावेश हो जाता है। यह अहिंसा ही सुख और शान्ति देने वाली है।

पाँचवाँ आदमी मारने वाले से कहता है—'कदाचित् तू यह कहे कि इसे मारे बिना मुझे सुख कैसे मिलेगा ? तो इसके लिए मेरी बात सुन। अगर तुझे किसी प्रकार का दुःख है और उस दुःख के प्रतीकार के लिए तू इसे दुःख दे रहा है तो, निश्चय समझ ले कि तू यह दुःख उसे नहीं दे रहा है वरन् अपनी आत्मा में ही दुःख के बीज बो रहा है। इस बीज से जो फल

लगेंगे उनका फल बहुत भयंकर होगा। तुझे अनेक गुना दुःख भोगना पड़ेगा। अगर तू इसे सुखी बनाने की चेष्टा करेगा तो, न केवल इसे सुखी करेगा वरन् अपनी आत्मा में भी सुख के बीज बोएगा। सुख के इस बीज से उत्पन्न होने वाला फल अतिशय मनोहर, साताकारी और लाभप्रद है। अतएव इसकी भलाई के लिए न सही, अपनी ही भलाई के लिए इसे मत मार।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

अर्थात् अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ है। इसलिए इसे अभय-दान देगा तो तू आप निर्भय बनेगा।

हिंसा से ग्रस्त प्राणी दूसरे को दुःख देने में सुख मानता है, लेकिन जो दूसरे को निर्भय बनाता है वह पूर्ण सुख के साथ पूर्ण स्वतन्त्रता का भी अनुभव करता है।

जो आदमी दूसरे को सुख देता है उसमें स्वयं भी सुख होता है। उसमें सुख न होता तो वह दूसरे को कहाँ से सुख देता ?

जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्,
न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति।

जो चीज जिसके पास है वही वह दूसरों को दे सकता है। खरगोश का सींग कौन किसे दे सकता है ?

जो आदमी यह कह रहा है कि—'इसने मुझे त्रिलोक का राज्य दिया।' उसके कथन से यह समझ लेना चाहिए कि मुझमें सुख विद्यमान है। तुम्हें किसी जवाहर पर विश्वास नहीं हो, मगर जब जौहरी उसकी परीक्षा करके उसे सच्चा जवाहर बता दे तब तो उसे जवाहर मानने में शंका को अवकाश नहीं रह जाता ?

इसी प्रकार अगर किसी ने कहा—'तू ने मुझे अभयदान दे कर त्रिलोक का राज्य दे दिया,' तो इस कथन से यह विश्वास हो जाना चाहिए कि मुझ में त्रिलोक का राज्य भरा पड़ा है। मैं अब तक अपने को तुच्छ एवं अपदार्थ मानता था परन्तु इसके कहने से आज मुझे प्रतीत हुआ कि मैं तीन लोक का राज्य दे सकता हूँ। यह त्रिलोक का राज्य अभयदान द्वारा ही दिया जा सकता है और अभय पाने वाला मनुष्य ही यह अनुभव करता है कि उसे तीन लोक का राज्य मिला। इसीलिए भगवान् ने अभयदान के संबंध में कहा है—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ।

एक ओर करोड़ रुपया मिलता है और दूसरी ओर जीवनदान मिलता है। जीव इन दोनों में से क्या लेना पसंद करेगा ?

'जीवन !'

तो यह निश्चित हुआ कि जीवन करोड़ रुपये से भी अधिक मूल्यवान् है। आप में जीवनदान देने की शक्ति है। जीवनदान के द्वारा आप अन्य प्राणियों को सुख और त्रिलोक का राज्य दे सकते हैं। फिर भी देने के समय आप क्यों यह सोचते हैं कि—'हम क्या दे सकते हैं!' चाहे और कुछ दो या न दो, लेकिन जीवों को सुख तो दो, जिसके समान संसार में दूसरा दान नहीं है। सब जीवों को सुख देने वाला प्राणी, उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थंकर गोत्र का बंध करता है।

तीर्थंकर के वचन पर अविश्वास तो नहीं करते ? फिर उन्होंने तुम्हारे भीतर जिस शक्ति का सद्भाव बतलाया है,

उसका उपयोग क्यों नहीं करते ? उस अनन्त शक्ति पर भरोसा करो, उसे प्रकट करने का प्रयत्न करो और उसका जो अंश अभी उपलब्ध है उसे शुभ कार्य में लगाओ।

इस प्रकार प्रमाण देकर वह पाँचवाँ आदमी मारने वाले से कहता है— इसे अभयदान देने से तुझ में त्रिलोकी का वैभव होगा। अगर तुझे त्रिलोकीनाथ बनना है तो यह तेरे ही हाथ की बात है। तू अपना हृदय उदार बना और सब जीवों को अभयदान दे। रोते-रोते, विवशता का अनुभव करते हुए अगर दान दोगे तो वह दान न देने के ही समान होगा। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

भावहीन क्रियाएँ, जिन क्रियाओं में केवल काय का सहयोग होता है और अन्तःकरण का सहयोग नहीं होता, वे फलदायिनी नहीं होतीं।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि एक आदमी मारने के लिए प्रेरणा करता है और दूसरा न मारने के लिए प्रेरित कर रहा है। दोनों अपने-अपने कथन की पुष्टि के लिए शास्त्रों के हवाले दे रहे हैं। उन शास्त्रों को आपने देखा नहीं है, फिर भी आपका आत्मा दोनों में से किसी एक को प्रमाणभूत स्वीकार करेगा और दूसरे को अप्रमाण और अनुपादेय मानेगा। आप बचाने का विधान करने वाले शास्त्र को सच्चा शास्त्र कहेंगे और उस शास्त्र का प्रमाण उपस्थित करने वाले को सच्चा शास्त्रज्ञ मानेंगे। कदाचित् इस मारने वाले आदमी ने उस शास्त्रज्ञ का कहना न

माना और पिटने वाले को मार भी डाला, तो भी वह पिटने वाला मरते-मरते भी यही कहेगा कि, देखो इस मारनेवाले दुष्ट ने उस भले आदमी का कहना न माना।

इस प्रकार यह बात आत्मानुभूत है कि किसी मरते हुए जीव को बचाना धर्म है। हमारे प्रयत्न करने पर भी मारने वाला चाहे मरने वाले को न बचने दे, लेकिन श्रद्धा तो उसे बचाने की होनी ही चाहिए। इसी प्रकार आप प्रत्येक बात को अपने आत्मा से तोलेंगे तो आपको उसके सत्यासत्य का विवेक हो जायगा

आचारांग सूत्र में कहा है कि—जिस बात को तू अपने ज्ञान से निष्कपट होकर सत्य मानता है वह तेरे लिए सत्य ही है, फिर भले ही वह दूसरों की दृष्टि में असत्य ही क्यों न हो! उदाहरणार्थ—तुम्हारे घर कोई कपटी, वेशधारी साधु आगया। तुमने निष्कपट भाव से सच्चा साधु समझ कर उसे उसी प्रकार आहार आदि का तो दान दिया जिस प्रकार सच्चे साधु को दिया करते हो। तो उस कपटी साधु को दिया हुआ दान तुम्हें वही फल प्रदान करेगा जो सच्चे साधु को देने से होता है। इसके विपरीत अगर तुम्हारा हृदय कपटपूर्ण है तो सच्चे साधु को दान देने से भी तुम्हें विषम फल प्राप्त होगा। जैसे सच्चे साधु को कड़ुवे तूम्बे का दान करने वाली नागश्री ब्राह्मणी को विषम फल प्राप्त हुआ था।

सारांश यह है कि धर्म को आत्मा की कसौटी पर कस कर समस्त प्राणियों पर दया करो। यही सब धर्मों में उत्तम

धर्म है। यही धर्म-क्रिया का निचोड़ है। यही धार्मिक अनुष्ठानों का ध्येय है। ऐसा करने से तुम्हारा आत्मा शिव-रूप बन सकेगा। यही परमात्म पद की प्राप्ति का सुन्दर और सरल मार्ग है।

समभाव वाले और विषम भाव वाले पुरुष के कार्यों में कितना अन्तर रहता है, यह बात संसार में सर्वत्र ही देखी जा सकती है। सम्यक्-दृष्टि-जीव भी खाना, पीना, विवाह आदि कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि भी यह सब करता है। लेकिन दोनों के कार्यों की भाव-भूमिका में महान् अन्तर होता है। समभाव से अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। उसका आस्वाद वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह सिर्फ अनुभव की वस्तु है और अनुभव करने वाले ही उसे पहचानते हैं। जिसके हृदय में समभाव जागृत हो जाता है उसे किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ती।

मित्रो ! ईश्वर के ध्यान से समभाव पैदा होता है और समभाव ही मोक्ष का द्वार है। ऐसा समझकर अगर आप अपने अन्तःकरण में समभाव धारण करेंगे तो आप का परम कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० २८-९-३१.

षष्ठः निष्कामता

प्रार्थना

श्री दृढ़रथ नृपति पिता, नन्दा थारी माय ।
रोम-रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय ॥
जय जय जय त्रिभुवनधणी, करुणानिधि करतार ।
सेव्यां सुरतरु जेहवो, वांछित सुखदातार ॥ जय० ॥

श्री शीतलनाथ भगवान् की इस प्रार्थना में कहा गया है—हे परमात्मा, हे त्रिभुवन के अद्वितीय नाथ, तू जयवन्त हो, तेरी जय हो !

इस प्रार्थना में किस भावना का समावेश किया गया है? त्रिभुवन के नाथ का जय-जयकार करने से आत्मा में कौन-सी भावना उत्पन्न होती है?

जो किसी कुटुम्ब का स्वामी है वह अपने कुटुम्ब को सुखी और समृद्ध देखना चाहता है। देश का राजा अपने देश को सुखी नाना चाहता है। इसी प्रकार कुटुम्बवाले कुटुम्ब के स्वामी की जय चाहते हैं और देशवासी देश के राजा की जय कामना करते हैं।

दोनों की तुलना करने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि कुटुम्ब का स्वामी जितना विकास चाहता है, उसकी अपेक्षा देश का राजा अधिक विकास चाहता है। इसी प्रकार कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय मनाने से देश की जय-विजय अधिक विस्तृत जय-विजय है। इस तरह कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय की अपेक्षा देश के अधिपति राजा की जय-विजय मनाना अधिक उदारतापूर्ण है; फिर भी राजा की जय-विजय भी विशुद्ध नहीं है—अपूर्ण है। राजा अपने विकास के लिए, अपने विजयलाभ के लिए दूसरों का विनाश भी चाहता है। वह दूसरे को हानि पहुँचा करके भी अपने को एवं अपने देश को लाभ पहुँचाना चाहता है। अतएव एक राजा की विजय समष्टि की विजय नहीं है। जिस विजय का मूल्य, अन्य का पराजय है, वह विजय विशुद्ध विजय नहीं कहला सकती। सच्ची विजय में किसी के पराजय की कामना नहीं हो सकती। वहाँ तो समष्टिगत कल्याण की चिन्ता की जाती है। अतएव किसी एक राष्ट्र का लाभ, जब

वह अन्य राष्ट्र को हानि पहुँचा कर प्राप्त किया जाता है, तो अनर्थ का कारण बनता है। इससे राष्ट्रों में समष्टि की भावना नहीं उत्पन्न होने पाती। प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको सुखी और समृद्ध बनाना चाहता है। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का स्तन चूस कर स्वयं मोटा बनना चाहता है तो विश्व में शान्ति कैसे हो सकती है? आज यही अशुद्ध राष्ट्रीयता विश्व में विप्लव मचाये हुए है। राष्ट्रों में परस्पर जो प्रतिस्पर्धा चल रही है, एक दूसरे को अपना भोग बना लेने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न कर रहा है, एक को निर्बल बना कर दूसरा सबल बनता जा रहा है, सो क्या इससे जगत् सुख–शान्ति पा सकेगा? कदापि नहीं। यह प्रतिस्पर्धा और स्वार्थलिप्सा से दूषित राष्ट्रीयता ही राष्ट्रों के सत्यानाश का कारण बन जायगी। अतएव संसार के समग्र राष्ट्र जितनी जल्दी हो, इसका परित्याग करके शुद्ध राष्ट्रीयता की उपासना करेंगे तो शान्ति-लाभ कर सकेंगे।

शुद्ध राष्ट्रीयता क्या वस्तु है? उसकी उपासना किस प्रकार होती है? इस संबंध में यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जिस राष्ट्रीयता में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सहायक और पूरक रहता है, जिसमें प्रतिस्पर्धा के बदले पारस्परिक सहानुभूति की प्रधानता होती है, जहाँ विश्व-कल्याण के प्रयोजन से राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होता है, वही शुद्ध राष्ट्रीयता है। जैसे शरीर का प्रत्येक अंग दूसरे अंग का पोषक है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र विश्व-शरीर का पोषक होना चाहिए। इस नीति पर जगत् के राष्ट्र अमल करेंगे तभी शान्ति होगी। मानव-समाज का, मेरे विचार से, यही सर्वश्रेष्ठ सामाजिक आदर्श है। यही समाजवाद

का चरम रूप है। इसी से स्थायी शान्ति और बन्धुत्व-भावना की स्थापना की जा सकती है।

अब प्रश्न यह है कि जगत् के इस विषमय वातावरण में यह उदार भावना किस प्रकार आ सकती है ? किस उपाय से भूतल के एक कोने में रहने वाला मनुष्य, दूसरे कोने के निवासी प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझ सकता है ?

इस प्रश्न का मेरे पास, एक—केवल एक ही उत्तर है। वह यह है कि त्रिलोकीनाथ की विजय की भावना में ही विश्वशान्ति की भावना निहित है। इस प्रकार की व्यापक भावना त्रिलोकीनाथ की विजय चाहने से ही हो सकती है। त्रिलोकीनाथ—परमात्मा की विजय चाहने से अन्तःकरण में एक प्रकार की विशालता—सम-भावना—आती है। ऐसा चाहने वाला व्यक्ति सोचता है कि मेरा स्वामी त्रिलोकीनाथ है। संसार के समस्त प्राणी उसकी प्रजा हैं। जब मैं त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो फिर उसकी प्रजा में से किसका पराजय, किसका बुरा सोचूं ? मैं जब त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी समस्त प्रजा का भला चाहूँ। परमात्मा की विजय चाहने से इस प्रकार के विचार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं और इन उदार विचारों से राग-द्वेष का भाव क्षीण होजाता है। जितने अंशों में विचारों की उदारता होगी उतने ही अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी और जितने अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी उतने ही अंशों में निराकुलता—शान्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार विश्वशान्ति का मूल-मंत्र है—परमात्मा की विजय की कामना करते रहना।

इस विजय-कामना की एक विशेषता यह भी है कि इसकी आराधना से सामूहिक जीवन के साथ ही साथ वैयक्तिक जीवन का भी विकास होता है। इससे सिर्फ राष्ट्र या राष्ट्र-समूह ही लाभ नहीं उठा सकते वरन् व्यक्ति भी अपना जीवन उदार, समभाव-पूर्ण और शान्त बना सकते हैं।

इस प्रसंग में इतना और कह देना चाहिए कि पाश्चात्य स्कारों के प्रसार से भारतीय जनता भी धर्म और ईश्वर से विमुख-सी होती जाती है, परन्तु समय सिद्ध कर देगा कि यह विमुखता जगत् के लिए अभिशाप बनेगी। परमात्मा के पवित्र आसन पर भौतिक विज्ञान की तिष्ठा करने वाले अशान्ति की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। वे संहार को निमंत्रित कर सकते हैं और विप्लव का आह्वान कर सकते हैं। उनसे शान्ति-स्थापना की कदापि आशा नहीं रक्खी जा सकती। परमात्मा का बहिष्कार करके साम्यवाद की स्थापना करने वाले लोग, मेरे विचार में, भयंकर भूल कर रहे हैं। उनके इस कार्य की तुलना उस व्यक्ति से की जानी चाहिए जो निर्जीव अस्थिपंजर को सिंगारने की असफल चेष्टा करता है या हवा को नींव बना कर महल खड़ा करना चाहता है। यदि यह प्रयत्न सफल नहीं हो सकते, तो ईश्वर को बहिष्कृत करके विश्वशान्ति के प्रयत्न भी निश्चित रूप से सफल नहीं हो सकते।

मित्रो! संसार संबंधी शान्ति की स्थापना के लिए तथा अन्तःकरण को मलीन बनाने वाले राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए परमात्मा की शरण ग्रहण करो।

यह कहा जा सकता है कि हम परमात्मा को त्रिलोकीनाथ तो मानते हैं; लेकिन हम गृहस्थ हैं—हमें स्त्री की कामना रहती है, धन की लालसा बनी हुई है। परमात्मा को त्रिलोकीनाथ मानकर अगर हम किसी के प्रति राग-द्वेष न करें तो गृहस्थी संबंधी कामनाएँ कैसे पूर्ण होंगी? उन्हें पूर्ण करने के लिए क्या हम किसी दूसरे के शरण जावें? अगर दूसरे के पास न जावें, तो परमात्मा त्रिलोकीनाथ है—निष्पक्ष—वीतराग है, और हम अभी तक पक्ष का त्याग नहीं कर सके हैं। ऐसी अवस्था में हमारा निर्वाह कैसे होगा?

यद्यपि यह विषय कठिन है, फिर भी थोड़े में कुछ स्थूल बातें बताऊँगा। इस विषय में थोड़ा कुछ जान लेने से भी आत्मा को समाधि मिलती है।

परमात्मा को त्रिलोकीनाथ मानकर उसकी विजय चाहने से व्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। हाँ, व्यवहार में दूषितता के जो अंश हैं वे अवश्य निकल जाते हैं और भले प्रकार एवं शान्तिपूर्वक व्यवहार चलाने की शक्ति आ जाती है। अतएव कोई भी व्यक्ति, चाहे वह राजा हो, चाहे व्यापारी हो, अपने राज और व्यापार का संचालन करता हुआ भी त्रिलोकीनाथ की छाया में जाकर शान्तिलाभ कर सकता है तथा धीरे-धीरे अपना विकास करता हुआ त्रिलोकीनाथ की गति प्राप्त कर सकता है। अगर ऐसा न होता, गृहस्थ लोग त्रिलोकीनाथ की छाया में न पहुँच पाते होते और सांसारिक उपाधियों से मुक्त साधुजन ही त्रिलोकीनाथ की छाया में जा पाते, तो फिर भगवान् का नाम 'त्रिलोकीनाथ' नहीं हो सकता था।

राजसत्ता का विचार राज्याधिकारी को ही होता है, सब को नहीं होता। राजसत्ता क्या वस्तु है, इसे अधिकारी भले ही समझता हो, सब नहीं समझते। लेकिन राजा तो सभी का है-सिर्फ राजसत्ता समझने वाले का ही नहीं है। वह अज्ञ, अशक्त और गरीब का भी राजा है। इसी प्रकार साधु भी त्रिलोकीनाथ के भक्त होते हैं और गृहस्थी भी हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को त्रिलोकीनाथ मान कर उसकी विजय चाहने में संसार-व्यवहार संबंधी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

गृहकुटुम्बी एक भक्त होता है और दूसरा अभक्त। संसार का काम दोनों ही चला रहे हैं, मगर दोनों में भेद होता है। दोनों में क्या भेद है, यह समझाना ही व्याख्यान का प्रयोजन है। दोनों का भेद एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

दो आदमी रोटी खाते हैं। रोटी खाने का व्यापार यद्यपि दोनों का समान है, फिर भी उनमें से एक खाने के लिए जीता है और दूसरा जीने के लिए खाता है। सोचिए, इन दोनों के सदृश व्यापार में भी कितनी विसदृशता विद्यमान है? जो जीवित रहने के लिए खाता है वह उतना और वही खाएगा जिससे उसका जीवन बना रहे। जीवित रहने के लिए खाने वाला ऐसा भोजन कदापि नहीं करेगा जिससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हो, जो जिन्दगी को बिगाड़े। वह व्यक्ति यह बात कदापि नहीं भूलेगा कि मैं जीवित रहने के लिए खाता हूँ, अतएव विकारजनक पदार्थों का भक्षण करके अपने धर्म और शरीर रूपी हीरे को नष्ट न होने दूंगा। मैं केवल वही

भोजन करूँगा जो जीवन कायम रखने में सहायक हो, जिससे बुद्धि का विकास हो और मानसिक शक्ति की वृद्धि हो। जो वस्तु इन उद्देश्यों का विघात करती है, जो आरोग्य की दृष्टि से हेय है, उसे मैं ग्रहण नहीं करूँगा।

इस प्रकार जीने के लिए खाने वाला पुरुष विवेक के साथ भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार रक्खेगा और अभक्ष्य का परित्याग करेगा।

इसके विपरीत खाने के लिए जीवित रहने वाला सोचता है—इस जीवन में मैं जितना स्वाद ले सकूं, ले लूं। मैं जितना अधिक खा सकूंगा, जितना स्वाद ले सकूंगा, उतना ही मेरा जीवन सफल हो सकेगा।

अब आप विचार कीजिए कि जीने के लिए खाने वाले और खाने के लिए जीने वाले में कितना अन्तर है ?

मैं प्रायः सदा इस बात का ध्यान रखता हूँ कि मेरा व्याख्यान सिर्फ विद्वानों के लिए नहीं है किन्तु स्त्रियों और बच्चों के लिए भी है। अतएव मैं इसी दृष्टि से विवेचन करता हूँ। सभी लोग, जहाँ तक मेरा खयाल है, इसे समझ सकते हैं; समझने का सबको प्रयत्न करना चाहिए। अगर कोई समझने का प्रयत्न ही न करे तो इसका क्या उपाय है ?

संसार में जो रोग-शोक फैल रहे हैं उनमें से अधिकांश उन लोगों की देन हैं जो भोजन-पान में विवेकहीन होकर प्रवृत्ति करते हैं। दस आदमियों का भोजन एक आदमी खा जाता है; फिर उसे आनन्द नहीं मिलता। वह अपने लिये अपच,

अजीर्ण आदि रोग खरीद लेता है। इस प्रकार वह खाकर मरता है और शेष नौ आदमी भूख के मारे मरते हैं।

सुना जाता है कि भारतीयों की दैनिक आमदनी का औसत –)।।। प्रति मनुष्य है। यदि प्रत्येक आदमी इतने ही में काम चला ले तब तो सब को बराबर भोजन आदि मिलता रह सकता है। अगर कोई आदमी ≡)।। खा जाता है तो वह एक आदमी को भूखा मारता है या नहीं ? जो व्यक्ति इससे जितना ही अधिक भोजनादि का व्यय बढ़ाता है वह उतने ही अधिक आदमियों को भूखे मारने का दोषी सिद्ध होता है। सुनते हैं हमारे यहाँ के अनेक रईस तो दो रुपया प्रतिदिन चुरुट और सिगरेट में ही फूँक देते हैं ! भला यह कैसी व्यवस्था है ? जिस समाज में इतना वैषम्य भरा है वह समाज कब तक सुख-चैन से सो सकेगा ?

जीवित रहने के लिए खाने वाला विवेकी पुरुष ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। उसे जीवन-निर्वाह के लिए सादा और सात्विक भोजन चाहिए। उसकी पूर्त्ति वह अपने हिस्से की आमदनी से ही पूर्ण कर सकता है। इतने के लिए दूसरों के मुख का कौर छीनने की आवश्यकता नहीं है।

इतिहास में लिखा है कि रोम का बादशाह बड़ा ही रसिक था। उसने अधिक से अधिक पदार्थों का स्वाद लेना ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। इस ध्येय की पूर्त्ति के लिए वह नित्य नये-नये और भाँति-भाँति के सुस्वादु भोजन बनवाता और थोड़ा-थोड़ा सब में से खाता था। पकवान अनेक और उदर

बेचारा एक ही। जब कभी वह पकवानों से ठसा-ठस भर जाता और स्थान न रहने से जवाब दे जाता, फिर भी पकवान शेष रह जाते, तो राजा उन शेष पकवानों का आस्वाद लेने के लिए वमनकारक चूर्ण आदि लेता और वमन के द्वारा पेट खाली करके फिर शेष पकवानों का रसास्वादन करता था। राजा अपनी स्वाद-लोलुपता का शिकार हुआ। रोगों ने उसे अकाल में ही परलोक का मेहमान बना दिया।

इस बादशाह में और किसी भुखमरे में क्या अन्तर रहा? बल्कि भुखमरा तो पेट ही भरता है। वह जिह्वा-लोलुप होकर रसास्वाद के लिए वमन करके पेट खाली नहीं करता। यह बादशाह तो उससे भी गया-बीता है। ऐसी मानव-वृत्ति देख कर ही ज्ञानियों ने सातवें व्रत की स्थापना की है।

जब खाने के लिए जीने वाले बादशाह से भी हम घृणा करते हैं तब इस घृणा में इस कोटि के सभी लोग सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार खाने के लिए जीवित रहने वाले स्वयं भी दुःख में पड़ते हैं और दूसरों को भी दुःख में डालते हैं। इससे विपरीत, जीने के लिए खाने वाला चिरायु और निरोगी रहता है। चिरायु और निरोगी रहने के लिए तथा बुद्धि एवं मानसिक शक्ति को बनाये रखने के लिए, साथ ही इच्छा को सीमित करके यथा-संभव अधिक से अधिक समभाव सीखने के लिए, ज्ञानी महापुरुषों ने सातवाँ व्रत बता कर माँस-मदिरा आदि हानिकारक वस्तुएँ छोड़ने की प्रेरणा की है और बुरे भोजन का त्याग कराया है। आप लोगों के स्वेच्छाहार-विहार में अन्तराय डालना ज्ञानी पुरुषों

का अभिप्राय नहीं है। इस उद्देश्य से यह व्रत नहीं बताया गया है। वरन् उन्होंने आपका हानि-लाभ जान कर, आपके ऊपर अनन्त करुणा करके सातवाँ व्रत स्थापित किया है। इस व्रत का नाम उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है। इस व्रत को ग्रहण करते समय श्रावक को उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करनी पड़ती है।

जिन भोगोपभोग संबंधी वस्तुओं की मर्यादा करनी पड़ती है, वे इस प्रकार हैं—

१—उल्लणियाविहि—अँगोछा, रूमाल आदि का परिमाण करना।
२—दंतणविहि—दातौन आदि का परिमाण करना।
३—फलविहि—फलों के भक्षण का परिमाण करना।
४—अब्भंगणविहि—मसलने योग्य तेल आदि का परिमाण करना।
५—उव्वट्टणविहि—पीठी आदि का परिमाण करना।
६—मज्जणविहि—स्नान के पानी का परिमाण करना।
७—वत्थविहि—वस्त्रों का परिमाण करना।
८—विलेवणविहि—विलेपन योग्य केशर आदि का परिमाण करना।
९—पुष्फविहि—फूलों का परिमाण करना।
१०—आभरणविहि—गहनों की मर्यादा करना।
११—धूवणविहि—धूप की मर्यादा करना।
१२—पेज्जविहि—पेय (पीने योग्य) पदार्थों की मर्यादा करना।
१३—भक्खणविहि—भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा करना।

१४—ओदणविहि—भात आदि राँधन की मर्यादा करना।

१५—सूपविहि—दाल आदि की मर्यादा करना

१६—विगयविहि—घी, दूध, गुड़, तेल आदि के खाने की मर्यादा करना।

१७—सागविहि—शाक-तरकारी की मर्यादा करना।

१८—माहुरयविहि—मधुर फलों की मर्यादा करना

१९—जेमणविहि—जीमन का परिमाण करना।

२०—पाणियविहि—पानी की मर्यादा करना।

२१—मुहवासविहि—मुख को सुगंधित करने वाली इलायची आदि की मर्यादा करना।

२२—वाहणविहि—सवारी की मर्यादा करना।

२३—वाणहविहि—जूता आदि का परिमाण बाँध लेना।

२४—सयणविहि—बिस्तर आदि की मर्यादा करना।

२५—सचित्तविहि—सचित्त पदार्थों की मर्यादा करना।

२६—दव्वविहि—(पूर्वोक्त से अतिरिक्त) द्रव्यों का परिमाण करना।

सातवें व्रत में इन सब भोगोपभोग संबंधी वस्तुओं की सूची दी गई है। इनकी मर्यादा का स्वरूप समझाने के उद्देश्य से ज्ञानी महापुरुषों ने आनन्द श्रावक का चरित भी निरूपण किया है। जो आनन्द बारह करोड़ सोनैयों का धनी था, जिसके पास चालीस हजार गाएँ थीं, उसने भी श्रावक के बारह व्रत धारण करके किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया है, यह बताने

के लिए ही आनन्द का चरित्र लिख कर उसे ग्यारह अंगों में सम्मिलित किया गया है। उपासकदशांग सूत्र, जिसमें आनन्द श्रावक का चरित वर्णित है, ग्यारह अंगों में सम्मिलित है। उसमें श्रावकों का चरित पहले दिया है और साधुओं का बाद में। इस में उपासकों के चरित हैं।

उपासक का अर्थ है—उपासना अथात् सेवा-भक्ति करने वाला। श्रावक, श्रमण का अर्थात् साधु का उपासक होता है, अतएव उसे शास्त्रों में श्रमणोपासक या 'समणोवासग' भी कहा है।

शंका—क्या श्रावक अरिहन्त का उपासक नहीं होता ? अगर होता है तो उसे अरिहन्तोपासक क्यों नहीं कहा ? श्रमणोपासक कहने का तात्पर्य क्या है ?

समाधान--अरिहन्त परिमित होते हैं। किसी काल में होते हैं और किसी काल में नहीं होते। उदाहरण के लिए वर्त्तमान काल को ही लीजिए। इस समय यहाँ अवसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा वर्त्त रहा है। इस समय श्रावक—उपासक तो हैं पर अरिहन्त नहीं हैं। श्रमणों के विषय में यह बात नहीं है। जब श्रमण होते हैं तब श्रावक भी होते हैं और जब श्रावक नहीं होते तो श्रमण भी नहीं होते। इस कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा गया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। अरिहन्त भगवान् का समावेश श्रमण में हो जाता है। श्रमण पद व्यापक है और अरिहंत पद व्याप्य है। जहाँ व्याप्य होता है वहाँ व्यापक का होना अनिवार्य है। जहाँ नीम होगा वहाँ वृक्ष अवश्य होगा।

व्यापक के बिना व्याप्य होता नहीं है, वृक्ष के बिना नीम कदापि नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार अर्हन्त-अवस्था श्रमण-अवस्था के बिना संभव नहीं है। अतएव श्रमण कहने से अर्हन्त का भी ग्रहण हो जाता है। श्रमण की उपासना में अरिहन्त की उपासना भी गर्भित हो जाती है। अतः श्रावक को श्रमणोपासक कहने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि श्रावक अरिहन्त का उपासक होता है, क्योंकि अरिहन्त भी एक प्रकार के श्रमण हैं। शास्त्रों में मुनियों के पुलाक, बकुश आदि पाँच भेद बतलाये गये हैं। उनमें एक भेद 'स्नातक' भी है, जिसका अर्थ होता है केवली। अरिहन्त भगवान् स्नातक जाति के श्रमण हैं।

जैसे व्यापक वस्तु का कथन करने से व्याप्य का ग्रहण स्वयं हो जाता है, वैसे व्याप्य के कथन से व्यापक का ग्रहण नहीं होता। वृक्ष कहने से आम, नीम, पीपल आदि समस्त वृक्षों का बोध होता है परन्तु नीम कहने से समस्त वृक्षों का बोध नहीं होता। अगर श्रावक को अरिहन्तोपासक कहा जाता तो अरिहन्त की उपासना में साधारण छद्मस्थ मुनियों की उपासना का बोध नहीं हो सकता था। इस हालत में श्रावक छद्मस्थ मुनियों की उपासना नहीं करता। इस अनिष्ट दोष का निवारण करने के लिए श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहना ही उचित ठहरता है।

आनन्द श्रावक का चरित सातवें अंग में प्रतिपादन किया गया है, जिससे श्रावक-समूह भली भांति समझ सके कि बारह व्रतों को अंगीकार कर लेने पर भी जीवन-व्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ती। उस चरित को देख कर आप

अपना जीवन भली भाँति सुधार सकते हैं। वह श्रावकों के समक्ष एक आदर्श है, जिसे सामने रख कर श्रावक अपना जीवन संतोषमय, निराकुल और शान्त बना सकते हैं।

सातवें व्रत में जिन वस्तुओं की सूची दी गई है उसे देख कर आप लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादा करें, जिससे शरीर न बिगड़े, बुद्धि भी खराब न हो तथा विवेक भी बना रहे। मर्यादा करते समय विवेक से काम लेना चाहिए। ऐसा न हो कि सचित्त वनस्पति का तो त्याग कर दिया और अंडे खाने लगें। मैंने सुना है, बहुत-सी एलोपैथिक औषधियों में सुअर, गाय, बैल आदि पशुओं एवं पक्षियों की चर्बी, मांस आदि का सम्मिश्रण होता है। अगर कोई हरी छोड़ कर ऐसी औषधियों का सेवन करने लगे तो विवेक कहाँ रहा ? जिसे त्रस जीवों की हिंसा का विचार नहीं है वह स्थावर जीवों की अहिंसा का कैसे पालन कर सकता है ? अतएव जो कुछ त्यागो, उसमें विवेक से काम लो। अन्तःकरण में अनुक्रम से करुणा-बुद्धि जागृत करते हुए प्राणी मात्र पर मैत्री की भावना स्थापित करो।

आनन्द श्रावक ने कई हरी चीजों का आगार रक्खा था, लेकिन वह भ्रष्ट करने वाली वस्तुओं का सेवन नहीं करता था। हरी का सम्पूर्ण रूप से त्याग करना अच्छा ही है, मगर विवेक की आवश्यकता है। आनन्द ने अपने व्रत में विवेक रक्खा था। वह शरद् ऋतु में प्रातःकाल तैयार हुए घी के अतिरिक्त और कोई घी नहीं खाता था। आप लोग बाजारू घी तो नहीं खाते हैं ? संभव है, गाँवों से आया हुआ समझ कर आप बाजारू घी खाते हों, तो सुना जाता है कि अब गाँवों में भी शहरी घी पहुँच चुका

है और वहाँ पर भी देहाती घी में उसकी मिलावट की जाती है।

आनन्द श्रावक के जीवन चरित से क्या शिक्षा मिलती है, इस बात पर बहुत कम लोग विचार करते होंगे। साधारणतया चरित को सुन लिया जाता है और ऐसा अनुभव किया जाता है, मानो इस चरित का संबंध सिर्फ आनन्द से ही है। हमारा इससे क्या सरोकार है? परन्तु अगर तुमसे इस चरित का सरोकार न होता तो तुम्हें सुनाया ही क्यों जाता?

आज भी जो खाने के लिये नहीं जीता है, किन्तु जीने के लिए खाता है, उसका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा और उसकी मानसिक शक्ति तथा बुद्धि भी निर्मल रहेगी। लोग खाने-पीने में बेभान रहते हैं और यह नहीं सोचते कि धर्म भ्रष्ट करने वाली सटर-पटर चीजें खाकर हम श्रावक का पद कैसे निभा सकते हैं? श्रावक-पद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आहार संबंधी विवेक अनिवार्य हैं।

मोटरगाड़ी, घोड़ागाड़ी आदि विलास की वस्तुओं की वृद्धि में, जो जीवन और धर्म को संकट में डालने वाली हैं, लोग सदैव तत्पर रहते हैं, किन्तु भोजन के विषय में बहुत कम यह सोचते हैं कि हम क्या खाएँ और क्या न खाएँ?

मित्रो! जबानी जमा-खर्च न करके जैसा कहो, वैसा ही करो। जो जैसा कहता है वैसा ही करता है और भोजन-पान के विषय में बेभान नहीं रहता, वह प्रायः रोगी-शोकी नहीं होता और उसका जीवन अनेक आपत्तियों से मुक्त रहता है।

सारांश यह है कि खाने के लिए जीने वाले और जीने के

लिए खाने वाले में जो अन्तर है, वही अन्तर भक्त और अभक्त गृहस्थों में है। जो अभक्त है वह ईश्वर को भूलकर धन में ही तन्मय रहता है, लेकिन भक्त गृहस्थ ईश्वर का स्मरण करता हुआ यही समझता है कि यह सम्पदा मेरी नहीं है। भक्त गृहस्थ मानता है कि ईश्वर-भक्ति और धर्म-मार्ग पर चलने से जो पुण्य मैंने उपार्जन किया है उस पुण्य के उदय से यह ऋद्धि-सम्पत्ति मुझे प्राप्त हुई है; एक प्रकार से यह ईश्वर की है। इसे मैं उसी के चरणों में अर्पित करता हूँ।

आज म्हारा संभव जिन जी रा,
हित चित से गुण गास्याँ राज।
मधुर-मधुर सुर राग अलापी,
गहरे शब्द गुंजास्याँ राज ॥ आज० ॥
दीनदयाल दीनबन्धु के,
खानाजाद कहास्याँ राज।
तन धन प्राण समर्पी प्रभु को,
इन पर वेग रिझास्याँ राज ॥ आज० ॥

भक्त गृहस्थ कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति रखता हुआ भी उस पर ममत्व नहीं रखता। 'यह मेरा है' इस प्रकार की ममता उसके अन्तस्तल को स्पर्श नहीं कर पाती। वह अपने को धन-सम्पत्ति का रखवाला मात्र समझता है और विचार करता है कि यह सब सामग्री प्रभु की सेवा के लिए है, इसलिए मैंने परमात्मा की सेवा में इसे समर्पित कर दिया है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परमात्मा तन-धन-प्राण लेता है ? परमात्मा वीतराग है, शरीररहित मुक्त है।

वह धन-तन आदि कैसे और उसे किस प्रकार दिया जा सकता है ?

इस प्रश्न का समाधान जैन सिद्धान्त से तो होता ही है, किन्तु हमें पहले यह देखना है कि जैनेतर सिद्धान्तों में इस विषय का समाधान किस प्रकार किया गया है ? गीता में कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
—अ. ३, श्लो. ९.

अर्थात्—हे अर्जुन ! समस्त काम यज्ञ के लिए करने चाहिएँ। यज्ञ के लिए किये गये कामों के अतिरिक्त और सब काम कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यज्ञ वास्तव में क्या है ? यज्ञ किसे कहना चाहिए ? कोई-कोई अग्नि में घी होमने को यज्ञ कहते हैं। किसी ने पशुओं की बलि चढ़ाना यज्ञ समझ लिया है और कोई तो नरबलि को भी यज्ञ मानते हैं। तात्पर्य यह कि लोगों ने यज्ञ का मूलभूत वास्तविक अर्थ बदल कर उसे हिंसा में परिणत कर दिया है। इसी कारण यज्ञ के नाम पर घोर हत्या हुई है और आज भी अनेक देवी-देवताओं को उद्देश्य करके लाखों पशुओं का निर्दयता के साथ वध किया जाता है। प्राचीन साहित्य से ज्ञान होता है कि यज्ञ के नाम से धरती पर रक्त की नदियाँ बहाई गई थीं।

लोकमान्य तिलक ने यज्ञ की घोर प्रथा का वर्णन करते हुए लिखा है कि चम्बल नदी का वास्तविक नाम चर्मवती है।

इस नदी का चर्मवती नाम पड़ने का कारण भी उन्होंने बताया है। एक राजा ने यज्ञ के लिए इतने पशुओं की बलि चढ़ाई कि इस नदी के किनारे उन पशुओं के चर्म का ढेर लग गया और उससे रक्त की जो धारा बही उससे नदी का पानी रक्त-वर्ण हो गया। तभी से इस नदी का नाम चर्मवती पड़ा, जिसे आजकल की बोली में 'चम्बल' कहते हैं।

इस प्रकार यज्ञ का अर्थ हिंसा में बदल गया, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ हिंसाकारक नहीं है। यज्ञ का वास्तविक अर्थ समझाने का बीड़ा जैनशास्त्रों ने तो उठाया ही है, परन्तु गीता आदिक वैदिक सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ भी हत्या वाले यज्ञ को यज्ञ नहीं कहते। गीता में कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च, यतयः संशित व्रताः ॥
—अ० ४, श्लो० २८.

अर्थात् द्रव्य, तप, योग, स्वाध्याय और ज्ञान से यज्ञ होता है। परोपकार के लिए द्रव्य आदि को लगाने रूप सात्विक दान देने में लगे रहना द्रव्य-यज्ञ है। सात्विक तप करना तप-यज्ञ है। ध्यान, धारणा, समाधि आदि योग-यज्ञ कहलाता है। शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय-यज्ञ है और आध्यात्मिक विचार में मग्न रहना ज्ञान-यज्ञ है। *

इन पाँच प्रकार के गीता-वर्णित यज्ञों में हत्या को कहाँ अवकाश है? यहाँ तो विशुद्ध आचार का ही प्रतिपादन किया गया है।

---

* देखो गीता का व्यवहार-दर्शन। पृ० २०१.

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में हरिकेशी मुनि ने भी ब्राह्मणों को यज्ञ का अर्थ समझाया है।

कहं चरे भिक्खु वयं जयामो, पावाइं कम्माइं पुणोल्लयामो।
अक्खाहि णं संजय जक्ख पूइया, कहं सुजट्ठं कुसला वयंति॥

जब मुनिराज हरिकेशी ने ब्राह्मणों के हिंसात्मक यज्ञ को पाप रूप बताया तब उन्होंने मुनि से पूछा—हे भिक्षु! हम लोगों को यज्ञ करना चाहिए या नहीं? अगर यज्ञ करें तो कौन-सा यज्ञ करें जिससे पाप का नाश हो सके? हे संयत, कृपा करके हमें समझाइए कि ज्ञानी पुरुषों ने किसे सुयज्ञ बतलाया है?

ब्राह्मणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा—

छज्जीव काये असमारभन्ता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थीओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता॥
सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुचइत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥

अर्थात्—षट् जीव-निकाय का आरंभ न करने वाले, मृषावाद और अदत्तादान का सेवन न करने वाले, परिग्रह, स्त्री, मान, माया आदि का त्याग करने वाले, पाँच प्रकार के संवर से युक्त, जीवन के प्रति निष्काम, शरीर की ममता से रहित पुरुष श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं; अर्थात् उल्लिखित गुणों को अपने जीवन में व्यवहार्य बनाना ही श्रेष्ठ यज्ञ है।

इसके बाद ब्राह्मणों के एक और प्रश्न के उत्तर में मुनि ने कहा—

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंग।
कम्मेहा संजमजोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

अर्थात् तप अग्नि है। जीव अग्नि का स्थान है—होमकुण्ड है। योग चटुवा—सामग्री लेकर होमने का उपकरण—है। शरीर इंधन है। संयम और योग शान्तिपाठ है। हम इस प्रकार का अग्निहोत्र करते हैं। यही अग्निहोत्र ऋषियों द्वारा प्रशंसित है।

प्रश्नोत्तर लम्बा है और इसे पूर्ण रूप से समझाने के लिए अधिक समय की आवश्यकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ न करना जैनधर्म का सिद्धान्त नहीं, वरन् यज्ञ का जो विकृत और वीभत्स रूप प्रचलित हो गया है उसका तीव्र विरोध करना जैनधर्म का काम है। गीता और उत्तराध्ययन—दोनों के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ का वास्तविक रूप हिंसामय नहीं है।

व्यास महर्षि का उद्धरण स्याद्वाद मञ्जरी में इस प्रकार दिया है—

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयाम्भसि।
स्नात्वाऽति विमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि॥
ध्यानाग्नौ जीव कुण्डस्थे, दममारुतदीपिते।
असत्कर्म समित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्॥
कषाय पशुभिर्दुष्टैः धर्मकामार्थनाशकैः।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः॥

अर्थात्—व्यास ऋषि उत्तम यज्ञ करने का उपदेश देते हुए कहते हैं—ज्ञान रूपी पाली से घिरे हुए, ब्रह्मचर्य और दयारूपी

जल वाले, पाप रूपी कीचड़ को धो डालने वाले निर्मल तीर्थ में स्नान करके; जीव रूपी कुंड में स्थित, इन्द्रियदमन रूपी वायु से प्रदीप्त की हुई ध्यान रूपी अग्नि में, पापकर्म रूपी समिधा डालकर श्रेष्ठ यज्ञ करो।

यही नहीं, आगे व्यासजी स्पष्ट कहते हैं—

> प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
> स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहि मुखकोटरात्॥

अर्थात् जो प्राणियों की हिंसा करके धर्मोपार्जन करना चाहता है वह मूढ़ है। वह काले साँप के मुख से अमृत की वर्षा होने की असंभव इच्छा करता है। तात्पर्य यह है कि हिंसात्मक यज्ञ से धर्म होना असंभव है।

यह उद्धरण और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि जैनसिद्धान्त ही अकेला हिंसात्मक यज्ञ का विरोध नहीं करता, किन्तु वैदिक ऋषि भी हिंसा की वीभत्सता से ऊब कर उसकी निन्दा करते हैं।

जैन साहित्य और वैदिक सहित्य की विस्तारपूर्वक तुलना करने के लिए समय नहीं है। अतएव इतने उद्धरणों से तुलना की सामान्य दिशा का निरूपण करके ही संतोष मानना पड़ेगा। यज्ञ क्या है, इस संबंध में ही थोड़ा-सा विचार किया जाता है।

'इदम् न मम' अर्थात् यह मेरी वस्तु नहीं है, इस भाव से, उस वस्तु पर से अपना ममत्व हटा लेना और उस पर दूसरे

का अधिकार कर देना यज्ञ का अर्थ है। जो अपने अधिकार की चीजों पर से अपना स्वत्व त्याग देता है और दूसरे का अधिकार मान लेता है, वही सच्चा यज्ञ करने वाला है।

द्रव्य पर ममत्व न रखना, और उसे अपना न समझना, द्रव्य-यज्ञ कहलाता है। ऐसा करने के लिए घर-गिरस्ती त्याग कर साधु बन जाना ही आवश्यक नहीं है। द्रव्य पर अपना अधिकार न समझे, जगत् की वस्तु जगत् के लिए है, यह समझ कर उस द्रव्य का अपने आपको ट्रस्टी मात्र समझे और सार्वजनिक हित में द्रव्य का उपयोग करे, यह आवश्यक है। इसी को द्रव्य-यज्ञ कहते हैं।

जैसे द्रव्य का यज्ञ होता है वैसे ही दान का भी यज्ञ होता है। दान देकर उससे मान न कमाना, निष्काम भाव से दान देना दान-यज्ञ है। जो लोग दान द्वारा मान की कामना करते हैं, वे दान नहीं करते वरन् दान का सौदा करते हैं—किसी वस्तु को देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु की अभिलाषा करते हैं। ऐसे लोगों को कीर्त्ति या मान कितना मिलता है, यह तो आप लोग भी जानते हैं, पर उन्हें दान का वास्तविक फल नहीं मिलता। दान के असली फल को प्राप्त करने के लिए फल की आकांक्षा का त्याग करना चाहिए। यही सच्चा दान-यज्ञ है और यही प्रशस्त दान है।

हिन्दी 'नवजीवन' पत्र में मैंने पढ़ा था कि शिमला में एक पुरुष और एक स्त्री को देख कर गांधीजी का हृदय आनंदित हो उठा था। वह दोनों गांधीजी के पास आये और उन्होंने सौ

रुपये का एक नोट निकाल कर एक संस्था की सहायता के लिए गांधीजी के सामने रख दिया। वह संस्था सेठ जमनालालजी बजाज द्वारा संचालित होती थी। गांधीजी ने कहा—'जमनालालजी के पास पैसे की कमी नहीं है। उनके पास काफी पैसा है। उस संस्था को सहायता की आवश्यकता नहीं है। अतः आप यह रुपया अपने पास ही रहने दीजिए।'

यह सुनकर आगन्तुक पुरुष ने कहा—'जिस किसी भी कार्य में रुपयों की आवश्यकता हो उसी में यह लगा दीजिए। अमुक कार्य में रुपये लगाने की शर्त्त लगाना व्यर्थ है—भूल है। इस बात को मेरी अपेक्षा आप अधिक समझते हैं। अतएव अब इस विषय में मैं कुछ न कहूँगा। मैंने सरकारी नौकरी करके पैंतीस हजार रुपया बचाया है और इस समय भी मेरी आय लगभग एक हजार रुपया मासिक है। इस सम्पत्ति को मैं अपनी नहीं समझता। चाहता हूँ कि आप इसकी व्यवस्था करें और अपने हाथ में ले लें। इसी से मुझे आनन्द होगा। मैं इस सम्पत्ति पर से अपना आधिपत्य हटा लेना चाहता हूँ, जिससे अपने उत्तरदायित्व से बच सकूँ।'

मित्रो ! आप लोगों के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन-दुखियों को साता पहुँचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी तुम्हें कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ़ा है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश

बड़ा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्य रूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते ? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण कर दो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोड़ूँगा तो यह तो यहीं रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड़ जायगा।

श्रावक के तीन मनोरथों में से एक मनोरथ यह भी है कि—लोभ की वृद्धि करने वाले और खराबी पैदा करने वाले परिग्रह का त्याग करके कब मैं आत्म-कल्याण में लगूंगा ?' अतएव परिग्रह के पाश को ढीला होने दो—उससे बाहर निकलने का प्रयत्न करो।

गांधीजी ने आगन्तुक पुरुष से कहा—'तुम इस धन के ट्रस्टी रहो। जब किसी कार्य में इसे लगाने की आवश्यकता होगी, तब उस काम में लगा दिया जायगा।'

एक महिला को उसके पिता से बहुत-सी सम्पत्ति मिली थी। उसका पति आचारभ्रष्ट है, और उसने दूसरा विवाह भी कर लिया है। वह महिला उससे अलग रहती है। जैसे पूर्वोक्त पुरुष ने अपनी सम्पत्ति का त्याग किया, उसी प्रकार वह भी अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का दान करना चाहती है। वह देश-सेवा के फल-स्वरूप दो बार जेलयात्रा कर चुकी है और चर्खा आदि कात कर उसी की आमदनी से अपना निर्वाह करती है। वह भी

एक बार गांधीजी के पास आई और अपनी सम्पत्ति के दान के विषय में गांधीजी से निवेदन किया। गांधीजी ने उससे भी वही बात कही कि—उस सम्पत्ति को तुम अपनी न समझ कर अपने को उसका ट्रस्टी मानते हुए सँभालो।

मित्रो! अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी-भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा? हाँ, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगों की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड़ में फँसा रहे और उससे अपने आत्मा को मलिन बना डाले? उसे परोपकार में न लगावे? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को धर्म रूपी बैंक पर क्या विश्वास नहीं है?

मैं आपका धन नहीं चाहता। मेरे पास जो कुछ था उसका त्याग कर देना मैंने अपना सौभाग्य समझा है। उससे मुझे शान्ति और सुख मिला है। ऐसा करके मैंने निराकुलता का आनन्द अनुभव किया है। तुम्हें जो त्याग का उपदेश करता हूँ सो इसलिए कि तुम भी सुख-शान्ति का इसी उपाय से लाभ कर सकोगे। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य यही है कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे और आप उससे अलिप्त रहता हुआ अपने को उसका ट्रस्टी अनुभव करे।

रे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम प्रतिपाल।
अन्तरगत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

भाषा का प्रयोग दूसरे प्रकार का है मगर वस्तु वही है। गीता में ज्ञान-यज्ञ करने की जो बात कही गई है वही बात इस दोहे में कही गई है। जैसे धाय बालक की सार-सँभाल करती है—उसमें आत्मीयता का भाव स्थापित नहीं करती, उसी प्रकार आप धन की सार-सँभाल करें—उसके ट्रस्टी बने रहें, पर उसमें लिप्त न हों।

ऐसा करने से आपको दोहरा लाभ है। प्रथम यह कि आप उस धन से पापोपार्जन नहीं कर सकेंगे और दूसरा यह कि उसका नाश होने पर आपको दुःख न होगा। दूसरों की वस्तु का नाश होने पर क्या आप दुःख मनाते हैं ?

'नहीं !'

क्योंकि आप इस बात को जानते हैं कि यह वस्तु मेरी नहीं थी, किसी और की थी। जैसे औरों की वस्तु पर आत्मीयता की भावना नहीं है, उसी प्रकार अपनी सम्पत्ति पर भी आत्मीयता का भाव मत रक्खो—फिर आपको उसके नाश से शोक नहीं होगा। तुम्हारे पास धन है तो उस धन के गुलाम बन कर मत रहो। उसका सत्कार्यों में विनियोग करने वाले बनो। जाल में मक्खियाँ फँसती हैं; तुम धन के जाल में मत फँसो। धन को अपने भाग्य का बोझ मत बनाओ। उससे सौभाग्य का मंगल द्वार खोलो। धन अपने आपमें बड़ी चीज नहीं है। उसे पा लिया है तो कौन-सी महत्त्वपूर्ण वस्तु पा ली है ? आखिर संसार तो उन्हीं की चरण-रज अपने मस्तक पर चढ़ाता है जिन्होंने धन को अपने चरणों से ठुकरा दिया है। धन में यदि कुछ भी

अच्छाई है तो वह उसके सद्व्यय पर निर्भर है। जिस धन का सदुपयोग किया जाता है वही धन सार्थक है।

तुम समझते हो हमने तिजोरी में धन को कैद कर लिया है, पर धन समझता है कि हमने इतने बड़े धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का भी व्यय कर सकता है।

तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो, उसके लिए भले ही जान दे दो, लेकिन धन अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा—नहीं रहेगा। वह दूसरों का बन जायगा।

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो ? तुम्हीं त्याग की पहल क्यों नहीं करते ? क्यों स्वत्व के धागे को तोड़कर फैंक नहीं देते ?

स्वत्व का त्याग कर देना ही द्रव्ययज्ञ है। अपने पास जो है उसे 'इदम् न मम' कहकर परोपकार के निमित्त अर्पित कर दो और अपने आपको उसका सिर्फ ट्रस्टी समझो।

इसी प्रकार जो तप किया हो, उसके फल की कामना से दूर रहो। तप के बदले स्वर्ग आदि के सुखों की आकांक्षा न करो। उसके लिए अहंकार न करो। तप को सत्कार-सन्मान या सांसा-

रिक सुख की प्राप्ति का साधन मत बनाओ। 'इदम् न मम' कह कर परमात्मा को समर्पित कर दो।

तपस्या करना वीरता का काम है। प्रत्येक आदमी तप नहीं कर सकता। तपस्वी अपनी शक्ति का संचय करके तप करे और अहंकार आ जाए तो सारी तपस्या निरर्थक हो जाती है। अतएव तपस्या करके 'इदम् न मम' कहकर भगवान् की सेवा में उसे समर्पित कर देना चाहिए।

इसी प्रकार स्वाध्याय आदि को 'इदम् न मम' कह कर परमात्मा को अर्पण कर देना ही हितकर है। इससे अभिमान का भाव उदित नहीं होता है। इस प्रकार द्रव्य, तप, आदि का यज्ञ करता रहे तब तो ठीक है। यदि इनका अभिमान किया तो आत्मा का अधःपतन होजाता है।

मैं आप से एक बात पूछता हूँ। क्या रसोई बनाने वाली बहिन भी यज्ञ कर सकती है ?

'हाँ!'

यदि उस बहिन का हृदय निस्पृह है, उसमें स्वार्थ की कलुषता नहीं है, उत्सर्ग का भाव है, अगर वह दूसरों को सुखी बनाने के लिए अपनी कला-कुशलता का प्रयोग करती है, तो वह यज्ञ क्यों नहीं कर सकती ? अगर वह अपनों को खिलाने और दूसरों को टरकाने का भाव रखती है तो उसके हृदय में ममता है। इस ममता से उसका आत्मा पतित हो जायगा।

मान लीजिए एक घर में चार भाई हैं। बड़े भाई की स्त्री के भी बच्चे हैं और दूसरे भाइयों की स्त्रियों के भी। अब यदि

बड़े भाई की स्त्री भोजन बना कर अपने लड़कों को तो खिलावे और दूसरे लड़कों से कपट करे तो आप उसे क्या कहेंगे ?

'चोरी !'

गीता में कहा है कि जिसने दिया है उसे न समर्पित करके खाने वाला चोर है। यथा—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

—अ. ३, श्लो. १२.

यदि बड़े भाई की पत्नी यह विचार करे कि जिस घर में मैं और मेरे बालक रहते हैं उसी घर में दूसरे भी रहते हैं। मेरे बालकों की भाँति वह भी इसी प्रकार भोजन के अधिकारी हैं। मैं कपट करके पाप की भागिनी नहीं बनूँगी। इस प्रकार विचार कर सब भाइयों के बालकों को समान समझे और कपट न करे, तो ऐसी बहिन भोजन बनाती हुई भी यज्ञ कर सकती है। अगर वह अच्छा भोजन बना कर अपने बच्चों को खिलावे और दूसरे बच्चे एक ओर बैठे-बैठे ताकते रहें—फिर भी वह उन्हें न पूछे, तो उसको आप क्या कहेंगे ?

'राक्षसी !'

वह बहुत ओछे जी की समझी जायगी। यदि उसी स्त्री के देवर, दूर से, अपने बालकों को कम और दूसरे बालकों को ज्यादा देते देखें तो क्या उसके देवरों का जी न टूटेगा ?

'अवश्य टूटेगा !'

मैं आरंभ करने के लिए नहीं कहता। जो आरंभ होना था वह तो भोजन बनाने में हो चुका। परन्तु उस आरंभ के बाद

यदि हृदय निष्कपट और परोपकार-भाव से परिपूर्ण रहा तो भोजन बनाने में भी यज्ञ हो गया समझना चाहिए।

ज्ञानियों ने सद्गुणों की प्रशंसा की है, लेकिन दुर्गुणों के लिए मुँह पर ही फटकार बताई।

और हरिकेशी मुनि की, जो शरीर से काले-कलूटे, और विरूप थे, जिन्हें कोई अपने पास भी खड़ा होने देने में राजी नहीं होता था, भगवान् ने समवशरण में क्या प्रशंसा नहीं की थी? क्या उन्हें भगवान् ने अपनी छत्र-छाया में नहीं लिया था? यही नहीं, भगवान् ने कहा था कि—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसइ जाइविसेस कोवि ॥

अर्थात् तप की विशेषता तो साक्षात् दिखाई देती है, मगर जाति की कोई भी विशेषता मनुष्य में दिखाई नहीं देती। अर्थात् जहाँ जाति में भेद होता है वहाँ आकृति आदि में भी भेद होता है। मनुष्य-मनुष्य सब एक-सी आकृति वाले हैं और उनमें जाति संबंधी कुछ भी भेद नजर नहीं आता। इस कारण अनादि जाति-भेद की कल्पना करना निर्मूल है। जाति का कोई मूल्य नहीं है।

सारांश यह है कि जाति का, कुल का, धनसम्पत्ति और ऐश्वर्य का, यहाँ तक कि शरीर का भी ममत्व हटा देना चाहिए। इन सब के प्रति 'इदम् न मम' की भावना जब सुदृढ़ रूप से अन्तःकरण में जम जाती है तो आत्मा निस्पृह, निष्काम बन जाता है। इसी भावना को यज्ञ शब्द से सूचित किया जाता है।

जो महापुरुष निष्काम बन कर निरन्तर प्रशस्त अनुष्ठानों में अपना समय व्यतीत करते हैं, वही दुर्लभ मानवजीवन का लाभ लेते हैं। वही प्राप्त सुअवसर का सदुपयोग करते हैं। वे अपने आदर्श से अनेक आत्माओं का कल्याण करते हैं और स्वयं कल्याण के भागी होते हैं।

महावीर-भवन,
देहली
ता० ३०-९-३१.
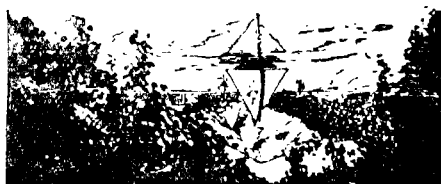
मंगल-मार्ग
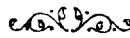
प्रार्थना

चेतन जान कल्याण करन को, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमान पिछान प्रभु गुन, मन चंचल थिर कर रे॥
श्रेयांस जिनंद सुमर रे॥ श्रे०॥

सास उसास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकर रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो समरन जिनवर रे॥ श्रे०॥
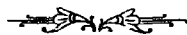
श्रेयांसनाथ भगवान् की इस प्रार्थना में परमात्मा का स्मरण करने की ताकीद की गई है। परमात्मा का स्मरण करने के लिए

जल्दी करने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि यों तो आत्मा अनादि-अनंत है और काल भी अनन्त है, फिर भी परमात्म-स्मरण का ऐसा अवसर सदा नहीं मिलता। एकेन्द्रिय आदि निकृष्ट पर्यायों में परिभ्रमण करते-करते अत्यन्त तीव्रतर पुण्य के योग से त्रस पर्याय, मानव भव, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और धर्म-श्रवण आदि सामग्री प्राप्त हुई है। अगर यह सामग्री परमात्मा के स्मरण के बिना ही, केवल भोग-विलास में व्यतीत हो गई, तो फिर इसका मिलना उतना ही कठिन है जितना समुद्र में चिन्तामणि गिर जाने पर उसका मिल जाना।

इसके अतिरिक्त यह अवसर जो प्राप्त हो गया है, सो चिरकाल तक स्थायी नहीं है। जीवन विद्युत् की चमक के समान क्षण भर में ही नष्ट हो सकता है। किसका श्वास कब बंद हो जायगा, सो कौन जानता है ? अगर जीवन कुछ वर्षों तक स्थिर भी रहा और मस्तिष्क ही किसी कारण से विकृत होगया तो जीवन किसी काम का नहीं रह जाता ! मस्तिष्क भी ठीक रहा, परन्तु यदि कोई भीषण शारीरिक व्याधि ही उठ खड़ी हुई तो परमात्मा का ध्यान नहीं हो सकता और आर्त्तध्यान में ही अनमोल जीवन के क्षण व्यतीत हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रथम तो परमात्मा के भजन करने का अवसर मिलना ही अत्यन्त कठिन है, तिस पर अनेक प्रकार की बाधाएँ सदैव ताकती रहती हैं और मौका मिलते ही उस अवसर को व्यर्थ बना डालती हैं। इस प्रकार मानव-जीवन की यह घड़ियाँ अनमोल हैं। यह घड़ियाँ परिमित हैं। संसार में कोई

सदा जीवित नहीं रहा और न रहेगा ही। अतएव प्राप्त सुअवसर से लाभ उठा लेना प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है। अतएव परम भाव से परमात्मा का स्मरण करो।

यह श्वासोच्छ्वास, जो चलता रहता है, समझो कि मेरा नहीं किन्तु परमात्मा का ही चलता है। इसे खाली मत जाने दो। प्रत्येक श्वास और उच्छ्वास में परमात्मा का स्मरण चलता रहने दो। इसके लिए सतत जागृत भाव की आवश्यकता है—चिरअभ्यास की अपेक्षा है। अगर शीघ्र ऐसा न हो सके, तो भी आदर्श यही अपने सामने रक्खो। आदर्श सामने रहेगा तो उसी ओर गति होगी, भले ही वह मंद हो।

यह प्रश्न हो सकता है कि श्वासोच्छ्वास से तो और भी काम लेने हैं, ऐसी दशा में उसे निरन्तर परमात्मा के ही स्मरण में कैसे लगाया जा सकता है? इस संबंध में इतना ही समझ लेना चाहिए कि श्वासोच्छ्वास से और काम लेने को कोई नहीं रोकता; मगर वे काम ऐसे हों जिनसे परमात्मा के स्मरण का, परमात्मा की भक्ति का, परमात्मा के प्रति उन्मुखता का विरोध न हो।

परमात्मा का पूर्ण भास कराने के लिए कथाओं का आदर्श है। यह आदर्श मार्गदर्शक भी है। कथाओं में वर्णित महा-पुरुषों ने जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त की है, उसी प्रकार सिद्धि प्राप्त करने के लिए हमें उनके चरित्र पर ध्यान देना चाहिए। चरित-नायक तो अब संसार में नहीं हैं, लेकिन उनके चरित का अनुस-रण करने वाले अपना कल्याण कर सकें, इसलिए उनका चरित

आज भी मौजूद है। आप उन कथाओं के मर्म को समझने का प्रयत्न करें।

सुबाहुकुमार की कथा प्रसिद्ध है। उसने भगवान् के चरण-कमलों में उपस्थित होकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। आप लोग भी श्रावक कहलाते हैं; पर श्रावक का अर्थ क्या है, यह बात बहुत से नहीं जानते।

श्रावक शब्द में तीन अक्षर हैं। यह तीनों अक्षर तीन बातें बतलाते हैं। श्रद्धा-भक्ति के साथ गुरुजन की सुशिक्षा को श्रवण करे यह 'श्रा' अक्षर का अर्थ है। दर्शन का वर्णन करना अर्थात् धारण किये हुए विशुद्ध वीतराग-धर्म का प्रकाश करना 'व' अक्षर का अर्थ है।

कई लोग तलवार से धर्म का प्रचार करना चाहते हैं। यही क्यों, बल्कि इतिहास से पता चलता है कि ऐसे अनेक प्रयत्न किये भी गये हैं। कोई-कोई लोभ के जाल में फँसा कर गरीब लोगों को उनका धर्म छुड़ाकर अपने धर्म में दीक्षित करना चाहते हैं। आज भी इस प्रकार के प्रयत्न चालू हैं और बहुत से भारतीय लोभ के चंगुल में फँस कर विधर्मी बनते जा रहे हैं। लेकिन श्रावक कभी भूल कर भी इस प्रकार के कुत्सित प्रयास नहीं करता। वह न तो तलवार के जोर से किसी को अपने धर्म में सम्मिलित करता है, न प्रलोभन देकर ही। वह अधर्मी के प्रति करुणाशील बनकर, वत्सलता द्वारा अपने धर्म को प्रकाशित करता है। वह सेवा, दान, परोपकार आदि प्रशस्त आचरण के द्वारा अपने धर्म का उद्योत करता है।

हिंसा अगर अधर्म है तो हिंसक उपायों से किसी को धार्मिक कैसे बनाया जा सकता है ? इसी प्रकार लोभ पाप है तो लोभ में फँसाकर दूसरे को धार्मिक नहीं वरन् पापी ही बनाया जा सकता है। अतएव श्रावक ऐसे तरीकों को व्यवहार में नहीं लाता।

तीसरा अक्षर 'क' है। 'क' का अर्थ है—कर्त्तव्य-पालन। श्रावक अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य मान कर पालन करता है। लोक-दिखावे के लिए अथवा किसी प्रकार की स्वार्थसाधना के लिए वह कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। विशुद्ध कल्याण की प्रेरणा से वह निरन्तर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

मनस्येकं वचस्येकं, काय एकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कायेऽन्यद् दुरात्मनाम्॥

अर्थात्—जिनका मन, वाणी और आचरण एक-सा है, इनमें भिन्नता नहीं है, वह महात्मा हैं। इसके विपरीत जिसके मन में कुछ और होता है, वाणी में कुछ भिन्न होता है और जो काम कुछ और ही करता है, वह दुरात्मा है।

सुबाहुकुमार श्रावक बना। उसने अपने आपको सत्य-मार्ग का पथिक बनाया। उसका मिथ्यात्व दूर हो गया।

मिथ्यात्व दूर होने से एक बड़ा लाभ यह है कि मिथ्यात्व को हटा देने वाला असत्य के (मिथ्यात्व संबंधी) पाप से बच जाता है। अगर वह कभी गलती कर जाता है तब भी उसे मिथ्यात्व का पाप नहीं लगता। भगवान् ने कहा है:—

समियंति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए।

अर्थात् जिसे तू सत्य मान रहा है, सत्य देख रहा है और सत्य समझ कर ही कर रहा है, लेकिन वस्तु-स्वरूप में वह यथार्थ नहीं है, तो भी तेरे लिए वह सत्य है; असत्य नहीं है।

इस प्रकार भगवान् ने सम्यग्दृष्टि के लिए सुविधा बताई है। उदाहरण के लिए एक आदमी किसी भी जीव पर पैर न पड़ जाने की भावना से, भली भाँति जमीन देखता हुआ, सावधान होकर चल रहा है। पर किसी प्रकार अचानक किसी जीव के उड़ कर आ जाने से या चलने वाले की किसी अशक्ति के कारण उसका पैर किसी जीव पर पड़ जाता है और जीव मर जाता है, तब भी शास्त्र कहता है कि उस आदमी को हिंसा का पाप नहीं लगता; क्योंकि वह सावधान होकर— जीव को बचाता हुआ चल रहा था। उस आदमी के भाव किसी जीव को दुःख देने के नहीं थे। इसके विपरीत जो आदमी असावधानी से चल रहा है, उसके पैर से किसी जीव की हिंसा न होने पर भी वह हिंसक है, क्योंकि उसके परिणामों में हिंसा है। कहा भी है:—

> मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
> पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसा मित्तेण समिदस्स॥

अर्थात् जीव चाहे मरे चाहे न मरे, मगर अयतना से चलने वाले को हिंसा अवश्य लगती है। इससे विपरीत यतना से समितिपूर्वक चलने वाले को जीव की हिंसा हो जाने मात्र से ही (भाव-हिंसा न होने के कारण) बंध नहीं होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यही बात इन शब्दों में कही है —

अविधायापि हि हिंसां, हिंसाफल भाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसां, हिंसाफल भाजनं न स्यात् ॥

अर्थात् कोई जीव हिंसा न करके भी हिंसा के फल का भागी होता है और कोई हिंसा हो जाने पर भी हिंसा के फल का भागी नहीं होता । तात्पर्य यह है कि हिंसा करने की भावना उत्पन्न हो जाने पर हिंसा का कार्य न हो सके तो भी हिंसा का पाप लगेगा। परन्तु परिणामों में यदि हिंसक-भाव नहीं आया—अहिंसा का भाव विद्यमान है—तो वह हिंसा हो जाने पर भी हिंसा के पाप का भागी नहीं है ।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि कार्य में भावना का स्थान प्रधान है । लौकिक अपराधों के लिए न्यायाधीश भी नीयत देख कर ही दण्ड देता है । अपराध हो जाने पर न्यायकर्त्ता अपराधी की नीयत पर विचार करता है। अपराधी ने जान-बूझ कर, अपराध करने के इरादे से अपराध किया है या अनजान में इससे भूल हुई है ? अगर अपराध करने की नीयत नहीं पाई जाती, तो अपराध हो जाने पर भी न्यायाधीश वह सजा नहीं देता जो आम तौर पर उस अपराध के करने वाले के लिए नियत होती है । इससे विरुद्ध जिसकी नीयत अपराध करने की होती है, उससे अपराध न हो पाया हो, तो भी उसे उस अपराध की सजा दी जाती है ।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई आदमी एक खंभे को निशाना बना कर गोली चलाता है । वह निशाना चूक जाता है और गोली एक आदमी को लग जाती है । आदमी की मृत्यु हो जाती

है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश असावधानी के अपराध में भले ही दंड दे पर मनुष्य की हत्या के अपराध में दंड न देगा। इस से विपरीत मनुष्य को गोली मारने की नीयत से अगर कोई गोली चलाता है और वह गोली संयोगवश उस मनुष्य को नहीं लगती; तब भी न्यायाधीश उसे मनुष्य की हत्या करने की चेष्टा के लिए सजा देगा।

तात्पर्य यह है कि सत्य समझ कर किसी कार्य को करते-करते अगर उसमें किसी प्रकार का बिगाड़ हो जाता है तो भी वैसा पाप नहीं लगता, जैसा समझ-बूझ कर काम बिगाड़ने से अथवा बुरे कार्य को बुरा समझते हुए भी करने से लगता है।

शास्त्र में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ज्ञान रहने पर भी असत्कार्य हुआ है, तब भी उसे हिंसक नहीं कहा। इसी प्रकार ज्ञान न रहने पर भी, सत्य पर निश्चल विश्वास होने से मनुष्य ज्ञानवान् से भी बढ़ गया है।

भगवतीसूत्र में वर्णनाग नतुआ का उदाहरण है। वर्णनाग नतुआ श्रावक था और बेला-बेला पारणा करता था—दो दिन उपवास रख कर एक दिन भोजन करता था। कोणिक और चेड़ा का जो भयानक संग्राम हुआ था उसमें वर्णनाग नतुआ भी चेड़ा राजा का एक रथी था। यद्यपि यह तपस्वी श्रावक दुनियादारी से दूर-सा रहता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता था, फिर भी इतना स्वामी-भक्त था कि चेड़ा की ओर से युद्ध का निमंत्रण पहुँचने पर उसने 'नाहीं' नहीं की। उसके मुख से यह नहीं निकला कि—'मैं संसार से अलग-सा रहता हूँ, मैं युद्ध

में न जाऊँगा। मुझे युद्ध से क्या प्रयोजन है ?' उसने सोचा—'शान्ति के समय चाहे किसी काम के लिए मनाई कर दूं, किन्तु लड़ाई के समय नाहीं करना कायरता है। लोग श्रावक को कहा कायर न समझलें।'

वर्णनागनतुवा सदा बेला-बेला पारणा करता था, पर युद्ध-भूमि में जाते समय उसने तेला किया। वह रथ में बैठ कर युद्ध के लिए चल दिया। उसने यह प्रण अवश्य कर लिया कि युद्ध में मैं उसी को मारूँगा जो मुझे मारेगा। जो मुझे न मारेगा उसे मैं भी न मारूँगा।

युद्ध में कोणिक के सैनिक ने वर्णनागनतुआ को बाण मारा। आघात के बदले प्रतिघात तो इसने भी किया, मगर वह बुरी तरह घायल हो गया। वर्णनाग नतुआ ने सोचा—'बस, अब मेरा काम पूर्ण हुआ। अब मेरी गणना कायरों में नहीं होगी और न मेरे कारण कोई श्रावकों को बदनाम कर सकेगा।'

यह सोचकर वर्णनागनतुआ अपना रथ लेकर जंगल में चला गया।

इसका एक बाल-मित्र भी इस युद्ध में सम्मिलित हुआ था। वह भी घायल हो गया था। उसने देखा, मेरा मित्र बाण से घायल होकर जंगल की ओर जा रहा है। बस, वह भी अपना रथ लेकर उसके पीछे-पीछे जंगल की तरफ चल दिया।

वर्णनाग नतुआ में मित्र से बात करने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। उसके मित्र ने परमात्मा की शरण में आत्मा को लेकर ज्यों ही बाण खींचा, त्यों ही प्राण-पखेरू उड़ गये।

वर्णनागनतुआ ने सोचा—'मेरे मित्र ने जिस विधि से प्राण त्यागे हैं वह विधि मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा मित्र सच्चा, धर्मात्मा और ईश्वर का भक्त है। वह झूठी विधि हर्गिज काम में नहीं ला सकता।' इस प्रकार विचार कर सरल भाव से उसने संकल्प किया—'मेरे मित्र के सब नियम-धर्म मुझे भी हों।' इस प्रकार अज्ञात अपरिचित नियम-धर्म का आश्रय लेकर उसने भी अपने शरीर से बाण खींचा और वह भी मर गया।

शास्त्र में प्रश्न किया गया है कि इन दोनों मित्रों को कौन-कौन-सी गति मिली? एक ने विधिपूर्वक नियम-धर्म का अनुष्ठान किया था और दूसरे ने बिना किसी विधि के ही। तब इन दोनों की गति में क्या अन्तर पड़ा? शास्त्र में इस प्रश्न का समाधान यह है कि वर्णनागनतुआ प्रथम स्वर्ग में गया है और उसका मित्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्त होगा।

भावना और विश्वास की प्रचण्ड शक्ति प्रदर्शित करने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त है। वास्तव में सत्य पर सम्पूर्ण श्रद्धा होने और असत्य को आग्रहपूर्वक त्यागने में ही एकान्त कल्याण है। सब महापुरुषों के जीवन के अन्तस्तत्व में यही तथ्य समाया हुआ है।

महापुरुष किसे समझना चाहिए? उसे कहाँ पा सकते हैं? यह प्रश्न अक्सर किया जाता है। मगर हमारे हृदय में यदि पूरी तैयारी है, खोज करने की आन्तरिक उत्सुकता है और उसके लिए यथोचित प्रयत्न किया जाता है, तो क्या नहीं मिल सकता? मनुष्य सभी-कुछ पा सकता है। जो मनुष्य स्वयं परमात्मा बनने

की क्षमता रखता है, वह क्या महापुरुष की खोज नहीं कर सकता ?

आज संसार में अनेक-अनेक आश्चर्य-चकित कर देने वाले जो आविष्कार हो रहे हैं, उनके मूल में जागृत जिज्ञासा और अथक प्रयास है। क्या आपने पहले 'वायरलेस' (बेतार का तार) सुना था ?

'नहीं !'

यद्यपि शास्त्र में ऐसी अनेक बातें थीं पर उस समय आप लोगों में से बहुतों का विश्वास ही नहीं रहा होगा। अब तो आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं।

एक कवि ने कहा है—

अवधू निरपख विरला कोई।
देखा है सब जग जोई ॥ रे अवधू० ॥
समरस भाव सदा है जाके, थाप उथाप न होई।
अविनाशी के घर की बातें, जानेंगे नर सोई ॥ रे अवधू० ॥

सारांश यह है कि सारा संसार छानने पर भी ऐसे निरपेक्ष-निस्पृह महात्मा मित्र का मिलना कठिन है, जिसका चित्त समभाव से भरा हुआ हो और जो मिथ्या के प्रति आग्रहशील न हो। ऐसे महात्मा जगत् में हैं अवश्य, किन्तु विरले हैं। पुण्य के योग से उनका समागम होता है। कदाचित् ऐसा महात्मा मित्र न मिले तो किसकी शरण लेना चाहिए ? इस संबंध में भगवती सूत्र में कहा है—

से णं भंते ! तमेव सच्चं निस्संकियं जं जिणेहिं पवेइयं ।।
हंता गोयमा ! तमेव सच्चं निस्संकियं जं जिणेहिं पवेइयं ॥

भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भंते ! मैं आपसे इतने प्रश्न करता हूँ, फिर भी आपके ज्ञान की थाह नहीं मिलती, तो उन बाल-जीवों की नाव आप सरीखे सद्गुरु के न मिलने पर क्या डूबी रहेगी ? ऐसा बाल-जीव अगर यह पूर्ण श्रद्धान करे कि—'जिन भगवान् राग-द्वेष से सर्वथा रहित हैं। वे सम्पूर्ण ज्ञानी भगवान् अपने ज्ञान में वस्तु का स्वरूप जैसा जानते हैं, मैं उसी पर श्रद्धा करता हूँ।'—और सब प्रकार की कुटिलता का परित्याग करके, विधि का परिज्ञान न होने पर भी इस प्रकार की भावना करे, दुराग्रह का त्याग करे, तो क्या वह बाल-जीव वीतराग-मार्ग का आराधक हो जाएगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम, हो जाएगा।

भगवान् के द्वारा दी हुई इस सुविधा को जानकर भी जो अपनी कुटिलता न छोड़े, असत् रूढ़ि को न त्यागे, तब तो किसी का कोई वश ही नहीं है; हाँ यदि हृदय सत्य-परायण हो जाय, अन्तःकरण में वक्रता न रहे तो ऐसे मनुष्य के समीप असत्य टिक नहीं सकता। ऐसे सत्योन्मुख व्यक्ति के सामने चालबाज आदमी नहीं ठहर सकता। उसका अन्तरात्मा ही उसे समय-समय पर संकेत करता रहेगा। निर्मल अन्तरात्मा का संकेत उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता रहेगा और वह कभी पथभ्रष्ट नहीं होगा। अगर कोई जानबूझ कर भी मिथ्यात्व और कदाग्रह में पड़ा रहे तो इसका उपाय ही क्या है ?

एक कवि ने प्रार्थना की है:—

विनती रघुवीर गुसाईं !
और आश विश्वास भरोसो, हर जिय की जड़ताई ॥विनती०॥

दि. जी.

कठिन काम ले जाहिं मोहिं जहँ, तहँ अपनी बिरियाई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छांड़िए, कमठ अण्ड की नाई ॥त्रि०॥

इस प्रार्थना में नाम का भेद भले ही हो, लेकिन जिसने परमात्मा के नाम जान लिये हैं उसकी यह प्रार्थना है। परमात्मा के नाम अनन्त हैं—उसके नामों का अन्त नहीं है। यों तो परमात्मा के नाम के जैन एवं अजैन सम्प्रदायों के कई सहस्रनाम बने हैं और गाये जाते हैं, फिर भी परमात्मा के नामों का कहीं अन्त नहीं दिखाई पड़ता। जो रागी है, द्वेषी है और मोह के प्रपंच में पड़ा है उससे यह प्रार्थना नहीं की गई है, वरन् जिसने इन समस्त विकारों पर आत्यन्तिक विजय प्राप्त करली है उसी से यह प्रार्थना की गई है। प्रार्थना में कहा है—हे प्रभो ! मेरे भीतर एक बड़ी दुर्बलता है। मैं आपकी शक्ति को जानते हुए भी, आपकी गोद में रहते हुए भी, पाप पर विश्वास करके कभी-कभी पाप की गोद में चला जाता हूँ। भगवन् ! मैं तुझसे धन-सम्पत्ति की याचना नहीं करता। मेरी एक मात्र यही याचना है कि मेरा विश्वास, मेरी श्रद्धा, अन्यत्र न जाकर केवल तेरे ऊपर ही केन्द्रित रहे। मैं तेरी ही आशा करूँ। अपनी श्रद्धा से कभी विचलित न होऊँ। तू दयालु है। तू नीतिमान् है। मैं तुझ से दुनियादारी की कोई चीज नहीं चाहता। अगर मैं ऐसी कोई चीज चाहूँ तो समझना चाहिये कि मैंने तुझे पहचान ही नहीं पाया है। प्रभो ! इतना वरदान दे कि कठिन कर्म के आ जाने से जीवात्मा जहाँ थक जाय, उस समय तू मेरी सहायता करना।

रावण द्वारा हरण करने पर सीता के ऊपर कठिन कर्म आ पड़ा था। सुदर्शन सेठ पर भी ऐसा ही विकट समय आ पड़ा

था । युवती रानी, युवक सेठ और ऊपर से राज्य का प्रलोभन ! ऐसे अवसरों पर सहायता करने के लिए मैं तुझ से प्रार्थना करता हूँ । इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर मेरा मन मलीन न होने पावे । प्रभो ! ऐसे मौके आने पर तू मेरे ऊपर ऐसी ही दृष्टि रखना जैसी कछुई अपने अंडों का पोषण करने के लिए उन पर दृष्टि रखती है । मुझे पाप से बचाना ।

कहा जाता है, कछुए अपने अण्डों—बच्चों को कुछ खिलाते-पिलाते नहीं हैं, केवल उन पर दृष्टि रखते हैं । न जाने उनकी दृष्टि में क्या विचित्र शक्ति है, जिससे अण्डों—बच्चों का पालन-पोषण हो जाता है ।

हे प्रभो ! कछुए की ही तरह तू मुझ पर दृष्टि रख, जिससे मेरी श्रद्धा का, मेरी आन्तरिक पवित्रता का पालन होता रहे । आस्रव के चक्कर से छूट कर संवर के शीतल आराम में विहार कर सकूं, इसलिए तेरी शक्ति की आवश्यकता है ।

इस प्रकार निष्कपट भाव से आप परमात्मा के प्रति आस्था रक्खेंगे, तो आपका मंगल होगा ।

महावीर-भवन, देहली
ता० ३१-७ ३१.
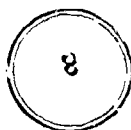
आत्मा का कर्तृत्व

प्रार्थना

प्रणमूं वासुपूज्य जिननायक, सदा सहायक तू मेरो।
विषम वाट घाट भयथानक, परम श्रेय सरनो तेरो ॥ प्रणमूं० ॥

भगवान् वासुपूज्य की जो प्रार्थना की गई है उसमें बड़े ही गंभीर विचार प्रदर्शित किये गये हैं। यद्यपि उसकी भाषा सरल है, पदों में प्रसाद है, बच्चा भी उसे समझ सकता है, फिर भी उसमें निहित विचारों का मनन करने से देवताओं के भी मस्तक हिल सकते हैं; ज्ञानियों के विचारों की यही विशेषता होती है।

वे सीधी-सादी सरल और सुबोध भाषा में अपने विचार प्रगट करते हैं, जिससे सर्वसाधारण उन विचारों से लाभान्वित हो सके और उन पर विचार एवं उनके अनुसार आचरण करके आत्मा अपूर्व लाभ प्राप्त कर सके।

स्तुति में कहा है—'प्रभो! तुझे नमस्कार है। तू मेरा सदा सहायक और रक्षक है। तेरे सिवाय मेरा कोई रक्षक एवं सहायक नहीं है।' इस प्रार्थना में जो बात कही है वही बात फारसी के कवि ने भी कही है। जैसे—

नदारे मैगरद तू फरियाद रस।
तुही आशियारौं खता बख्श बख्श॥

हे प्रभो! तेरे सिवा मेरी फरियाद सुनने वाला कोई नहीं है। मेरी मुराद की फरियाद सुनने वाला सिर्फ तू है। तेरी ही शरण से मेरे पापों का नाश होगा।

भाषा भिन्न होने पर भी भाव अभिन्न हैं। स्तुति में भी यही कहा है—

प्रणमूं वासुपूज्य जिन नायक,
सदा सहायक तू मेरो।

अब आप जैन भाई सोचेंगे कि दूसरे लोग ईश्वर से खता बख्शाने की प्रार्थना करें यह तो ठीक भी हो सकता है, क्योंकि वे ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं; परन्तु जैनधर्म में ईश्वर वीतराग माना गया है, कर्त्ता नहीं माना गया; फिर उसकी यह प्रार्थना कैसी? क्या वीतराग भगवान् भक्त की सहायता करेगा? अगर वह सहायता करता है तो अकर्त्ता कैसे रह सकता है?

मैंने जो स्तुति गाई है, वह नयी नहीं, पुरानी है। विनयचंद जी की रची हुई स्तुति बोलने या गाने से शायद ही कोई महात्मा और श्रावक बचे होंगे। प्रायः सभी इनकी स्तुतियों को बोलते और गाते हैं। विनयचंदजी ने इतना ही नहीं कहा। इसके आगे वे कहते हैं—

> विषम वाट घाट भय थानक,
>
> परम श्रेय सरनो तेरो ।
>
> जो प्रभु तू सानन्द होय तो,
>
> अरियन होय प्रगट चेरो ॥

अर्थात् संसार–मार्ग विषम है। भय का घाट है। इसमें केवल तू ही सहायक हो सकता है। दूसरा कोई सहायक नहीं हो सकता। सारा संसार मेरे विरुद्ध हो जाय, मुझे तलवारों और भालों के बीच घेर लिया जाय, सभी मुझसे प्रतिकूल हो जाएँ, कोई भी मेरा मित्र न रहे, तब भी यदि तू मेरा रक्षक हो, तेरी मुझ पर दया हो, तो सभी शत्रु मेरे काबू में आजाएँगे।

इस प्रार्थना से यह प्रश्न और भी गहन होजाता है कि जब परमात्मा इतनी सहायता देता है, परमात्मा में ऐसी शक्ति है, तो वह अकर्त्ता कैसे है ? इतना सब-कुछ करने पर भी वह अकर्त्ता कैसे कहला सकता है ? अगर वह अकर्त्ता नहीं—कर्त्ता है, तो किस प्रकार ?

जैनशास्त्र स्याद्वाद के प्रतिपादक हैं। प्रत्येक कथन स्याद्वाद-सिद्धान्त के अनुसार ही शास्त्रों में किया गया है। एकान्तवाद जैनों को मान्य नहीं है। अतएव प्रस्तुत प्रश्न का समाधान भी

अनेकान्त-दृष्टि से करना चाहिए। जो लोग ईश्वर को एकान्त कर्त्ता मान कर उसकी व्याख्या करते हैं उसमें अनेक दोष आजाते हैं, अनेकान्त-दृष्टि से ईश्वर के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का विचार किया जाय तो ईश्वर का स्वरूप समझने में विलम्ब नहीं लगेगा। वस्तुतः ईश्वर न तो एकान्त कर्त्ता है और न अकर्त्ता ही है। इस संबंध में एकान्त को ग्रहण करके खींचतान करना ठीक नहीं है।

जो लोग ईश्वर को एकान्त कर्त्ता मानकर कहते हैं कि उसकी आज्ञा के बिना एक भी पत्ता नहीं हिलता। जो कुछ करता है सो ईश्वर ही करता है। दूसरा कोई कुछ नहीं करता। ऐसा कहने वाले लोग भूल में हैं। जरा विचार कीजिए कि सभी कुछ करने वाला ईश्वर ही है, दूसरा कोई कुछ नहीं करता, तो संसार में दुःख-शोक क्यों है? एकान्त सुखमय संसार क्यों नहीं है? दयामय ईश्वर क्या हमारे लिए दुःख और शोक का निर्माण करता है? अगर ऐसा है तो उसकी दयालुता कैसे रह सकती है? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर ने पापियों को दंड देने के लिए दुःख बनाया है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर किसी प्राणी के हृदय में पाप करने की प्रेरणा क्यों उत्पन्न करता है? अथवा पाप करने से वह रोक क्यों नहीं देता? ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी स्वीकार किया जाता है। उसे सब-कुछ मालूम रहता है और वह सब-कुछ कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह प्राणियों को पाप क्यों करने देता है? पहले जानता-बूझता और रोकने की क्षमता रखता हुआ भी पाप करने देता है और बाद में पाप का दंड देता है, यह ईश्वर की दयालुता के विरुद्ध है। इससे या तो ईश्वर निर्दय सिद्ध हो जाता है, या सर्वज्ञ नहीं

है, सर्व-शक्ति-सम्पन्न नहीं है।

यही नहीं, अनेक लोग ईश्वर का निषेध करने वाले हैं। उन्हें वह क्यों उत्पन्न करता है? अगर स्वयं ईश्वर ही उन्हें उत्पन्न करता है तो एक प्रकार से वह ईश्वर-निषेध में सहायक सिद्ध हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि पापी और नास्तिक जीवों का कर्त्ता ईश्वर नहीं है, तब वही बात आ जाती है कि ईश्वर कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है। अगर यह कहा जाय कि बुरे कामों का कर्त्ता आत्मा ही है और भोक्ता भी आत्मा ही है, ईश्वर तो केवल सुख और आनन्द का ही कर्त्ता है तो यह बताना चाहिए कि बुरे काम कराने वाला कौन है? वह कौन है जो अच्छे कामों से विमुख करके जीवात्मा से बुरे काम कराता है? अगर आत्मा बुरे काम स्वयं कर लेता है तो ईश्वर एकान्त कर्त्ता कैसे रहा? यदि कहा जाय की सद्गुण का कर्त्ता ईश्वर ही है तो फिर उपदेश की क्या आवश्कता है? ईश्वर जो चाहेगा सो आप ही कर लेगा। वह सर्वशक्तिमान् है, फिर दूसरों को उपदेश देने की क्या आवश्यकता है? ईश्वर को एकान्ततः कर्त्ता मानने वाले भी उपदेश देते हैं और प्रचार करते हैं, यह सब किस लिए? जब ईश्वर ही करता है तो इसकी क्या आवश्कता है? क्या ईश्वर में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उपदेशक का काम स्वयं कर ले?

इस प्रकार विचार करने से अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि वास्तव में कर्त्ता आत्मा ही है। शास्त्र में कहा भी है:—

> अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥

अर्थात् आत्मा स्वयमेव अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और हर्त्ता है। आत्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। आत्मा स्वयं वैतरणी नदी है, स्वयं शाल्मली वृक्ष है अर्थात् अपने दुःखों की सामग्री जुटाने वाला है और आत्मा स्वयं कामधेनु गाय है, आत्मा स्वयं नन्दनवन है अर्थात् सुखों के साधनों को जुटाने वाला है।

आत्मा ही कर्त्ता है. इस सिद्धान्त के विरुद्ध नास्तिक लोग पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों को कर्त्ता मानते हैं। यह मान्यता भी अज्ञानपूर्ण जान पड़ती है। मान लीजिए एक स्त्री दीपक लेकर तहखाने में गई। वह दीपक लेकर वहाँ खड़ी हुई, जिससे तहखाने के सब पदार्थ आँखों से दीखने लगे। अब यदि वह स्त्री कहती है कि दीपक से यह पदार्थ दीखने लगे हैं, आँखों से भी यह दिखाई दे रहे हैं, परन्तु देखने वाली मैं नहीं हूँ। तो प्रश्न होता है कि फिर देखता कौन है ? उन पदार्थों क्या दीपक देखता है ? इसके अतिरिक्त 'मैं देखने वाली नहीं हूँ' यह कौन कहता है ? इस कथन-क्रिया का कर्त्ता कौन है ? जो स्पष्ट रूप से कर्त्ता प्रतीत होता है उसे कर्त्ता न मान कर अन्य किसी को कर्त्ता ठहराना क्या उचित है ?

अगर इन्द्रियों को ही कर्त्ता मान लिया जाय तो क्या हानि है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इन्द्रियाँ वास्तव में करण

हैं, कर्त्ता नहीं हैं। इन्द्रियों को कर्त्ता न मानने के प्रबल कारण हैं। यथा—

(१) आज किसी व्यक्ति को आपकी चक्षु-इन्द्रिय ने देखा है। कल संयोगवश नेत्र फूट जाएँ तो उस देखे हुए व्यक्ति का स्मरण नहीं होना चाहिए। स्मरण उसी को होता है जिसने पहले वस्तु को देखा-जाना हो। बिना देखे-जाने किसी वस्तु का किसी को स्मरण नहीं हो सकता। इन्द्रियों को कर्त्ता मानने वाले लोगों के मत के अनुसार नेत्र ने ही उस आदमी को देखा था। अतएव उस नेत्र को ही स्मरण हो सकता था, परन्तु वह देखने वाला नेत्र अब नहीं रहा; तो उस आदमी का स्मरण होना ही नहीं चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। नेत्र नष्ट हो जाने पर भी नेत्र से देखे हुए रूप का स्मरण होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तव में नेत्र देखने वाला नहीं था। देखने वाला नेत्र के अतिरिक्त कोई और ही था, जो नेत्र के अभाव में भी स्मरण करता है। नेत्र के अभाव में भी स्मरण करने वाला पदार्थ आत्मा ही है; अतएव आत्मा ही दर्शन-रूप क्रिया-कर्त्ता सिद्ध होता है। नेत्र तो देखने में सहायक है—करण है।

(२) इन्द्रियों को कर्त्ता मानने में एक बाधा और है। वह यह है कि अगर इन्द्रियाँ ही कर्त्ता हों तो रूप-रस आदि अनेक इन्द्रियों द्वारा जाने हुए पदार्थों में जोड़ रूप ज्ञान नहीं होना चाहिये। 'मैं रूप को देखता हूँ, गंध सूंघता हूँ और रस का आस्वादन भी करता जाता हूँ।' इस प्रकार का ज्ञान सभी को हो सकता है, बल्कि होता भी है। अब विचार करना चाहिए कि इस ज्ञान से यह स्पष्ट

झलक रहा है कि रूप-रस आदि को जानने वाला कोई एक ही है—जो रूप देख रहा है, गंध सूंघ रहा है और वही रस का आस्वादन कर रहा है। यह बात इन्द्रियों को कर्त्ता मानने से कैसे हो सकती है ? एक इन्द्रिय एक ही विषय को जानती है। नेत्र रूप को ही जान सकता है, रस और गंध को नहीं। इसी प्रकार जिह्वा रस को जानती है, रूप और गंध को नहीं। घ्राण इन्द्रिय गंध के अतिरिक्त रूप और रस को नहीं जान सकती। इस प्रकार जब सभी इंद्रियाँ केवल अपने-अपने ही विषय को जानती हैं, तो इन सभी विषयों का जो संकलन-ज्ञान होता है, वह किसे होगा ? उस जोड़-रूप ज्ञान का कर्त्ता कोई भी इन्द्रिय नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के अतिरिक्त और ही कोई कर्त्ता होना चाहिये। वह कर्त्ता ही आत्मा है।

इस प्रकार भूतों को अथवा भूतों से बनी हुई इन्द्रियों को कर्त्ता मानना युक्ति के प्रतिकूल है। पंच भूत जड़ हैं। उन्हें अपना ज्ञान ही नहीं है। इन जड़ पदार्थों को कर्त्ता मानना और इनको अपना बताने वाले को कर्त्ता न मानना अज्ञान है।

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले कहते हैं—क्या यह घड़ी स्वयमेव बन गई है ? नहीं। जैसे घड़ी स्वयं नहीं बनी किन्तु किसी कारीगर ने बनाई है, उसी प्रकार शरीर को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इसे बनाने वाला कोई चेतन कारीगर होना चाहिए। वह चेतन कारीगर ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है ? इसलिए ईश्वर को ही कर्त्ता मानना चाहिए। ईश्वर ने बड़ी कुशलता से जीभ, आँख, कान, नाक आदि अवयव बनाये हैं।

जैसे घड़ी और उसके पुर्जे बिना बनाये नहीं बने, उसी प्रकार शरीर और उसके अवयव बिना बनाये नहीं बने हैं। जैसे घड़ी को देख कर कारीगर की याद आती है उसी प्रकार शरीर को देख कर ईश्वर की याद आती है कि ईश्वर ही इस शरीर का कर्त्ता है।

यह ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों का पक्ष है। इस संबंध में हमारा कहना यह है कि कहीं ऐसा न हो कि चौबेजी छब्बे बनने चले और दुबे ही रह गये। अर्थात् ईश्वर का महात्म्य बढ़ाने के लिए उसे एकान्त कर्त्ता मानने चले तो उल्टे उसके वास्तविक महत्व में बाधा आ जाय? ऐसी अनेक बातें हैं जिन्हें परमात्मा के सिर थोप देने से उसकी महत्ता में बट्टा लगता है। उदाहरण के लिए, एकान्त ईश्वर कर्तृत्ववादी कहते हैं, परमात्मा ने आँख बनाई है। अगर परमात्मा सामने की ओर आँख बनाने वाला है तो किसी के पीछे की आँख कौन बनाता है? बलुंदा (मारवाड़) के निवासी एक सेठ के यहाँ लड़की हुई थी, जिसकी आँख पीछे की तरफ थी। बताइए उस लड़की की पीछे की ओर आँख बनाने के लिए कौन जिम्मेदार है? क्या ईश्वर की बनाई हुई सब की आँख एक ही नियम से हैं? आँख के संबंध में जो बात है वही शरीर के अन्यान्य अवयवों के संबंध में भी कही जा सकती है। यथा—हाथ की उँगली का बढ़ जाना या छोटी हो जाना, छटी उंगली निकलना आदि। अहमदनगर में दो कन्याएँ एक ही में चिपकी हुई देखीं गई थीं। जब ईश्वर ही कर्त्ता है तो इस प्रकार की विषमता क्यों होती है? क्या इस विषमता और विरूपता से यह सिद्ध नहीं होता कि या तो ईश्वर शरीर का रचने वाला नहीं है, या फिर वह मुलतब स्वभाव

का है, जिसके कारण इस प्रकार की भद्दी और बेहूदी रचना कर बैठता है ? अन्तिम विकल्प में ईश्वर के ईश्वरत्व में बट्टा लगता है, उसकी सर्वज्ञता में बाधा आती है और उसकी महिमा दूषित हो जाती है। इसलिए ईश्वर में जो स्वाभाविक महिमा है वही बहुत है। उससे अधिक महिमा किसी और में नहीं हो सकती। भक्ति के वश होकर अथवा अज्ञान के कारण उसकी महिमा बढ़ाने का अनुचित प्रयास करना ठीक नहीं है। ऐसा करने से ईश्वर की बढ़ती नहीं, घटती है।

कार्य की विषमता से कारणों की विषमता का पता चलता है। हम एक वस्त्र सफ़ेद देखते हैं और दूसरा रंगीन देखते हैं। यह वस्त्र-रूप कार्य की विषमता है। इस विषमता से हम अनुमान कर सकते हैं कि इन वस्त्रों के कारणों में विषमता अवश्य होगी अर्थात् सफ़ेद वस्त्र का कारण सफेद सूत और लाल वस्त्र का कारण लाल सूत रहा होगा। इसी प्रकार शरीर-रचना की विषमता भी उसके कारणों की विषमता को सूचित करती है। शरीर-रचना की विषमता किसी विषम कारण के बिना नहीं हो सकती। तब प्रश्न होता है कि वह कौन-सा कारण है जो प्रत्येक शरीर की रचना में भिन्न-भिन्न है ? इसका समाधान यह है कि आत्मा द्वारा उपार्जन किया हुआ विषम कर्म ही विषम शरीर-रचना का कारण है।

अब प्रश्न होता है कि कर्म का कर्त्ता कौन है ? अगर ईश्वर को कर्म का कर्त्ता माना जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप तो धर्मात्मा हैं और ईश्वर पापी है ! क्योंकि ईश्वर ही कर्म

करता है और कर्म करने वाला पापी होता है। अगर यह कहा जाय कि कर्म का कर्त्ता आत्मा है तो आत्मा कर्त्ता सिद्ध हो जाता है। जब आत्मा कर्त्ता साबित हो गया तो ईश्वर को एकान्त कर्त्ता किस प्रकार कहा जा सकता है ?

कर्त्तावादी यह प्रश्न करते हैं कि अपराध करने वाला व्यक्ति स्वयं जाकर कारागार में बंद नहीं होना चाहता, बल्कि अपराध करके भी उसके फल से बचना चाहता है। कोई भी जीव दुःख नहीं भोगना चाहता। इस स्थिति में किये हुए पापों का फल—दुःख-भोग कराने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। कर्म स्वयं जड़ हैं, वे आप ही फल नहीं दे सकते।

इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि कर्म का फल देने वाला ईश्वर है, ऐसा माना जाय तो बड़ी गड़बड़ी पैदा होती है। कल्पना कीजिए किसी दुराचारी पुरुष ने एक सदाचारिणी स्त्री पर बलात्कार करके उसका शील नष्ट किया। शील का नष्ट होना पूर्व कर्म का फल हुआ या नवीन कर्म का बन्धन हुआ ? अगर यह पूर्वोपार्जित कर्म का फल है और फल देने वाला ईश्वर है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने उस सती स्त्री का शील भंग कराया है ! अगर ईश्वर ने ही उसका शील भंग कराया—ईश्वर की प्रेरणा से अगर शील-भंग हुआ तो फिर झगड़े की क्या बात है ? ईश्वर द्वारा प्रेरित अथवा ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करने वाला वह पुरुष समाज या राजा द्वारा दंड का पात्र क्यों होता है ? अतएव ईश्वर को कर्म का फल देने वाला मानने से ईश्वर

का ईश्वरतत्त्व ही भंग हो जाता है और लोक-व्यवहार में बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होती है।

क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर ने उस सदाचारिणी स्त्री का शील नष्ट कराया है ?

'नहीं !'

तो फिर ईश्वर की महत्ता बढ़ाने की मृग-तृष्णा में फँस कर उसकी आबरू लेने का प्रयत्न मत करो। ईश्वर में ऐसी मिथ्या विशेषताएँ कल्पित न करो, जिससे सर्वसाधारण का ईश्वर पर से विश्वास ही जाता रहे !

अगर यह कहा जाय कि बलात्कार द्वारा शील भंग करने वाला पुरुष नया कर्म-बन्धन करता है, तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर की इच्छा से वह ऐसा करता है या ईश्वर की इच्छा का उल्लंघन करके करता है ? अगर ईश्वर की इच्छा से शीलभंग करता है तो वही पूर्वोक्त आपत्ति यहाँ भी आती है। अगर ईश्वर की इच्छा का उल्लंघन करके कोई दुराचार करता है तो इससे ईश्वर की असमर्थता सिद्ध होती है। ईश्वर सर्व-शक्तिमान् माना जाता है तो क्या उसमें इतना भी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक दुराचारी पुरुष को पाप करने से रोक दे ?

इस प्रकार ईश्वर को एकान्त रूप से—सर्वांश में कर्त्ता मानने से अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। यही नहीं, ईश्वर एक अश्रद्धेय व्यक्ति बन जाता है। अतएव, मित्रो ! ईश्वर की ईश्वरता, पवित्रता, करुणाशीलता, सर्वज्ञता आदि गुणों की

रक्षा करनी है तो उसे इस प्रपंच में मत घसीटो। उसे अलग ही रहने दो।

जैनशास्त्र भी ईश्वर को कथंचित् कर्त्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु इस 'कथंचित्' पद में ऐसी विशेषता है कि इसकी बदौलत ईश्वर के कर्तृत्व में आने वाली समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं और ईश्वर की महत्ता भी घटती नहीं बल्कि बढ़ती है। ऊपर जिन बाधाओं का उल्लेख किया गया है वे एकान्त रूपेण कर्त्ता मानने में ही आती हैं। इसी एकान्त दृष्टि का जैनदर्शन शास्त्र में प्रबल विरोध किया गया है।

जैन शास्त्रों में आत्मा को भी कथंचित् (अपने शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा) ईश्वर माना गया है। सभी आत्मा ईश्वर हैं। ईश्वर का अर्थ है—जो स्वयं ही हो—बनावटी न हो। क्या आत्मा बनावटी है? क्या आत्मा का नाश होता है? नहीं। आत्मा कर्म-लिप्त है और ईश्वर कर्म-लेप से सर्वथा मुक्त है। वास्तव में यह भेद सिर्फ अवस्था का भेद है, मौलिक भेद कुछ भी नहीं है। एक आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
> अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

अर्थात् जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अतएव मैं स्वयं अपने द्वारा आराध्य हूँ, कोई और नहीं।

यही बात हिन्दी भाषा में कही गई है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोइ सिध होय।
कर्म-मैल का अन्तरा, बूझे विरला कोय॥

जैसा जीव वैसे ही सिद्ध हैं। आत्मा ही परमात्मा है। वह बनावटी नहीं है। गीता में कहा है—

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।

हे अर्जुन, जीव कर्म को नाश करके जहाँ जाता है और फिर जहाँ से नहीं लौटता, वह स्थान हमारा है।

वीतराग भयक्रोधा, मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागताः॥

अर्थात् राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित, ईश्वरमय होकर जो उपासना करते हैं, वे ज्ञान सहित क्रिया करने वाले ईश्वर-भाव को प्राप्त होते हैं।

अब आप समझ गये होंगे कि उस स्त्री को किसने भ्रष्ट किया है? जैन शास्त्र कहता है कि उस स्त्री को भ्रष्ट करने वाला पुरुष अपने पूर्वोपार्जित कर्म भोग रहा है और साथ ही नवीन कर्म का बंध भी कर रहा है। अर्थात् वह प्राचीन कर्मों को भोगने वाला तथा अभिनव कर्मों को बाँधने वाला है। इस कार्य के लिए राजकीय कानून इसलिए दंड देता है कि नये कर्म उपार्जन करने का किसी को अधिकार नहीं है। कदाचित् पाप-कर्म करने का दंड इस लोक में भले ही न मिले, परन्तु परलोक की सजा से कोई छुटकारा नहीं पा सकता।

अब आप पूछ सकते हैं कि परलोक में सजा देने वाला कौन है ? इसका उत्तर यह है कि जीव अपने कर्मों से स्वयं सजा पाता है। अगर यह कहा जाय कि कर्म जड़ हैं; वे सजा कैसे दे सकते हैं ? तो इसका भी समाधान है। कल्पना कीजिए, एक आदमी अपने मुँह में मिर्चा रखता है और दूसरा आदमी अपने मुँह में मिश्री रखता है। मिर्चा अपने स्वभाव के अनुसार मुँह जलायगी और मिश्री अपने स्वभाव के अनुसार मुँह मीठा करेगी। यहाँ मिर्चा और मिश्री को छोड़ कर यदि किसी तीसरे को मुँह जलाने वाला या मुँह मीठा करने वाला कहा जाय तो मिर्च या मिश्री की क्या आवश्यकता है ? मुँह जलाने वाला और मीठा करने वाला तो कोई तीसरा ही है; तब मिर्च या मिश्री व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कर्म की सजा देने वाला कोई दूसरा ही होगा तो उसे कर्म की क्या आवश्यकता है ? वास्तव में बात यह है कि जिस प्रकार मिर्च और मिश्री अपना गुण स्वयं बताती हैं; मुँह कड़वा या मीठा करने के लिए तीसरे की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कर्म अपना स्वभाव स्वयं प्रकट करते हैं। उसका फल भोगाने के लिए किसी और की आवश्यकता नहीं होती।

स्याद्वाद शैली किसी से लड़ने-झगड़ने की शिक्षा नहीं देती वरन् एकता में ही उसकी उपयोगिता है। वह परस्पर सौहार्द का पाठ पढ़ाती है। विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं को, जो परस्पर में असंगत से दिखाई देते हैं, किस प्रकार सुसंगत बनाना चाहिए, इसी के लिए स्याद्वाद प्ररूपणा की गई है। लेकिन आज तो स्याद्वाद के मानने वालों में ही आपस में सिर-फुटौवल होता

है। जरा-जरा से दृष्टिभेद के कारण धर्म के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। अगर स्याद्वाद शैली का मर्म समझ कर उसे जीवन में प्रयुक्त किया जाय तो ऐसे अवसर नहीं आ सकते।

आपका एक प्रश्न अब भी शेष रह गया है। वह दुराचारी पुरुष स्त्री का शील भंग करता हुआ पूर्वोपार्जित कर्म को भोगता और नये कर्म बाँधता है, सो किस प्रकार ? इसका समाधान यह है कि जब वह पुरुष, स्त्री का शील भंग करने लगा तब उसके अन्तर में तीव्र राग का उदय हुआ। इस तीव्र राग का उत्पन्न होना पूर्व कर्म का ही फल है। इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्म भोगे अर्थात् उनके फलस्वरूप उसने राग-द्वेष किया। साथ ही उसने नये कर्म बाँधे अर्थात् उसे भ्रष्ट करने के समय जो राग-द्वेष किये उनसे नवीन कर्मों का बंध हुआ। यह ऐसी ही बात है जैसे पुराना ऋण चुकाने के लिए नया ऋण लिया हो।

तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं अपने कर्म का कर्त्ता है। गीता में भी कहा है—

> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात् आत्मा द्वारा—अपने आपसे अपना उद्धार करो। यह आत्मा आप ही अपना वैरी है और आप ही अपना मित्र है।

इस कथन से साफ है कि आत्मा का उत्थान और पतन तुम्हारे ही हाथ में है। अपने बीच ईश्वर को घुसेड़ने की आवश्यकता

नहीं है । अब आप ही सोचिए कर्त्ता कौन है ?

'आत्मा !'

ईश्वर तो कहता है, मेरे भरोसे मत रहो । तुम अपना उद्धार आपसे ही करो । आगे गीता के पाँचवें अध्याय में कहा है—

> न कर्त्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
> न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

परमात्मा जीवों को न कर्म लगाता है और न कर्म-फल का संयोग ही कराता है । अज्ञान अवस्था में जीव जो पाप करता है, उसके स्वभाव से यह सब व्यवस्था होती है ।

ऐसी दशा में ईश्वर को कर्त्ता किस प्रकार ठहराया जा सकता है ? हमने अभी प्रार्थना में कहा है—

> प्रणमूं वासुपूज्य जिननायक,
> सदा सहायक तू मेरो ।
> विषम वाट वाट भयथानक,
> परम सेय सरणो तेरो ॥

अब यह कहा जा सकता है कि यदि आत्मा ही कर्त्ता है तो फिर परमात्मा की स्तुति से क्या लाभ है ? अगर परमात्मा सहायक होता है तो वह कर्त्ता हुआ या नहीं ?

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जैन शास्त्र ईश्वर के कर्तृत्व का जो निषेध करते हैं सो एकान्त कर्तृत्व का ही समझना चाहिए । कथंचित् कर्त्ता मानना जैन-सिद्धान्त से विरुद्ध नहीं

है। ईश्वर किस प्रकार कथंचित् कर्त्ता है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाना उचित होगा।

एक लड़का यमुना के किनारे खड़ा है। इसी समय किसी ने कहा—हवा पानी में तैरा देती है। लड़के ने उसकी यह बात सुनी। उसने सोचा—'पवन तो सर्वत्र है और मुझे परले पार जाना है। पवन तिरा देता है, डूबने नहीं देता। तो हवा के द्वारा ही मैं परले पार क्यों न चला जाऊँ ?' इस प्रकार सोच कर वह यमुना नदी में कूद पड़ा। जब वह डूबने लगा तो उसने विचार किया—'उस आदमी की बात दर-असल गलत थी। पवन में तिरा देने की ताकत कहाँ है ? होती तो मैं क्यों डूबता ?'

इतने में उस जानकार पुरुष ने कहा—पवन तिराता तो है; पर इस तरह नहीं तिराता। वह किसी अवस्था में तिराता भी है और किसी अवस्था में नहीं भी तिराता। अगर कोई बिना पूरी जानकारी के, इस प्रकार कूद पड़ेगा, तो वह डूबे बिना नहीं रहेगा। पवन इस प्रकार तिराता है—एक मशक में पवन भर लिया जाय और मशक का मुँह जोर से बंद कर दिया जाय। इसके बाद अगर कोई उस मशक पर सवार हो जाय तो वह तिर सकता है। दूसरे आदमी ने यह बात सुनकर ऐसा ही किया और वह डूबा नहीं किन्तु परले पार पहुँच गया।

अब मैं पूछता हूँ कि पवन तारने वाला है या नहीं ? जिस प्रकार पवन तिरने में सहायक होता है उसी प्रकार ईश्वर भी संसार-सागर से तिरने में सहायक होता है। विनयचंद्जी ने या मैंने ईश्वर के सहायक होने की व्याख्या नई नहीं की है।

पूर्वाचार्यों ने भी ऐसी ही व्याख्या की है:—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥

यह श्लोक प्रसिद्ध आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का है। इनका काल विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग माना जाता है। अगर इसकी वास्तविकता को भली भाँति समझ लिया जाय तो विदित होगा कि जैन सिद्धान्त ईश्वर को किस प्रकार का कर्त्ता स्वीकार करता है ?

इस श्लोक में बताया गया है—हे प्रभो ! तू तारक नहीं है। यदि तू तारक होता तो फिर कोई डूबता ही क्यों ? माता के सामने उसका बालक डूबता रहे और माता न बचावे, तो स्पष्ट है कि उस माता में बचाने की शक्ति ही नहीं है। इसी प्रकार जब संसार के अनेक प्राणी डूब रहे हैं तो तुझे तारक कैसे माना जा सकता है ?

यह एक पक्ष करके, आचार्य कहते हैं—तेरा आधार लेकर अनंत जीव तिर गये हैं, तिर रहे हैं और तिरेंगे। इसलिए तू तारक भी है। हवा सर्वत्र है, यह समझकर नदी में कूद पड़ने वाले बालक को पवन नहीं तिराता और मशक में पवन भर कर उसका मुँह बंद करके उस पर सवार होने वाले को पवन तिराता है; उसी प्रकार तू भी कथंचित् तारक है और कथंचित् तारक नहीं है। हे परमात्मन्, तू निर्विकार है। जैसे पवन किसी का

पक्ष नहीं करता, चाहे राजा हो चाहे रंक हो, जो भी कोई उसे मशक में भरेगा उसे ही वह तार देगा। इसी प्रकार तुझे भी किसी का पक्ष नहीं है। जो कोई भी तुझे अपने हृदय में बन्द कर लेता है—तुझे बाहर निकाल कर काम-क्रोध आदि को स्थान नहीं देता है, उसी को तू तार देता है।

जैन शास्त्र भगवान् को 'तीर्थंकर' या 'तीर्थंकर' कहता है। इस शब्द से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वर तीर्थ का कर्त्ता है—वह तीर्थ की रचना-व्यवस्था करता है। अतएव कथंचित् कर्त्ता मान लेने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

इससे यह निश्चय होता है कि ईश्वर कर्त्ता है, लेकिन निमित्त रूप से ही। और निमित्त-कर्त्ता मान करके ही उसकी स्तुति की गई है। ईश्वर पवन से भी सूक्ष्म है। जैसे पवन सब जगह और सदा रहता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी ज्ञानशक्ति से सर्वत्र है और सदा भी है।

पवन का आपके ऊपर कितना उपकार है, इसका विचार करो। अन्न के बिना तो मुनि ९५ दिन तक निकाल देते हैं। किन्तु श्वास के बिना भी कोई रह सकता है?

'नहीं!'

कदाचित् कोई समाधि लगा ले तब भी सूक्ष्म वायु तो रोम-छिद्रों द्वारा शरीर में प्रवेश करता और निकलता ही है? इस प्रकार पवन सदा ही सहायक है। लेकिन आप पवन की कद्र करते हैं? आप पवन का उपकार मानते हैं? जिन गहनों के बिना जीवन

का कोई भी काम नहीं रुकता, बल्कि जो जीवन के लिए भारभूत हैं, जीवन को विपत् में डालने वाले हैं, उनकी आप कद्र करते हैं, उन्हें पेटी में बंद कर बड़ी हिफ़ाजत से रखते हैं, लेकिन जिस पवन के बिना जीवन का काम ही रुक जाता है, उस पवन का आप उपकार नहीं मानते !

ठाणांग सुत्त (स्थानाङ्गसूत्र) में बताया है कि साधु छह काय के जीवों की सहायता से संयम पाल सकता है। इस प्रकार साधुओं पर भी पवन आदि का उपकार बतलाया गया है। आपको पवन के इस परम उपकार का ध्यान है ? क्या आपने कभी सोचा है कि मैं पवन द्वारा किये हुए उपकार की बदौलत ही जी रहा हूँ ? पवन आपका उपकार करता है और बदले में अपने उपकार की आपसे अपेक्षा नहीं रखता। तो इसका बदला चुकाना क्या आपका कर्त्तव्य नहीं है ? ऋण देने वाला अगर आप से वसूल नहीं करना चाहता तो क्या साहूकार का कर्त्तव्य है कि वह उस ऋण को हड़प जाने की इच्छा करे ? क्या इसके बदले आप लोग दूसरे की सहायता नहीं कर सकते ?

कोई दीन-दुखिया जब किसी के द्वार पर भीख माँगने आता है तब प्रायः उसे डाट कर कहा जाता है—'चल, हट यहाँ से ! यहाँ क्या तेरे बाप की धरोहर धरी है ?' ऐसा कहने वाले लोगों से पवन भी कदाचित् यही कह दे तो कैसी बीते ?

आध्यात्मिक विषय को जानने वाला पुरुष, पवन आदि पदार्थों के उपकार के भार से विनम्र होकर यही कहेगा कि मैं

किस पर गर्व करूं ? गर्व करने योग्य मेरे पास क्या है ? जीवन ही मेरा दूसरों की बदौलत टिका हुआ है तो गर्व की सामग्री मेरे पास क्या रह जाती है ? वह जीवन को श्वास का ही खेल समझता है ।

साधु भाई, दम ही दम का मेला ।
या में कौन गुरु कौन चेला ? ॥साधु०॥
बाजीगर ने बाग लगाया देखे खलक सब भेला ।
बाजीगर ने बाग समेटा, रह गया आप अकेला ॥साधु०॥

एक दूसरा कवि कहता है—

श्वास छतां सब आश करे,
श्वास घट्यां कहे काढ़ो जो काढ़ो ॥

ऐसा प्रताप है दम का; खयाल आता है मैं इस तथ्य को भूल कर कहाँ पिछड़ रहा हूँ !

मित्रो ! परमेश्वर पवन से भी सूक्ष्म है । जिस पर तुम्हारा जीवन टिका है वह श्वास सदा नहीं रहेगा, इसलिए सदा रहने वाले परमात्मा की शरण में जाओ । परमेश्वर से प्रार्थना इसीलिए की गई है कि—हे प्रभो ! तेरा ध्यान रहे तो विषम बाट-घाट में तू मेरा सहायक है । तेरी सहायता प्राप्त हो जाने के पश्चात् किसी प्रकार के संकट, त्रास या भय की संभावना नहीं रह जाती । परमात्मा की सहायता जिसे मिल गई वह सदा आनन्द-मंगल-मग्न ही रहेगा । उस अवस्था में उसकी कल्पनाएँ और संभावनाएँ पलट जाएँगी । हृदय शत्रु को शत्रु और संकट को संकट न समझेगा । इस समय शत्रु प्रतीत होने वाला उस समय

मित्र प्रतीत होगा और संकट आत्मोन्नति का सुअवसर जान पड़ेगा। शत्रु बन कर आने वाला कहेगा—'मैं तेरा शत्रु हूँ, देख इस चमकती तलवार से तुझे मजा चखाता हूँ।' पर उसका आत्मा कहेगा—'हर्गिज नहीं। तुम मेरे शत्रु हो ही नहीं सकते। तलवार का प्रहार करके तुम मुझे पुराने ऋण से उऋण कर सकते हो। इससे मेरी शक्ति का विकास होगा। अतएव तुम मेरे मित्र हो। मैं पहले चिरकाल तक माया के चक्कर में फँसा रहा, उसका स्मरण दिलाने और भविष्य संबंधी चेतावनी देने तुम आये हो। तुम मेरे शत्रु कैसे हो सकते हो?'

सोमल ब्राह्मण ने जब गजसुकुमार मुनि के सिर पर अंगारे रक्खे थे, तब मुनि ने उसे शत्रु समझा था या मित्र माना था?

'मित्र!'

भगवान् नेमिनाथ ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर अंगार रखने वाले का परिचय, कृष्ण को क्या कह कर कराया था? विरोधी कह कर या सहायक कह कर?

'सहायक कह कर!'

आप कह सकते हैं—ईश्वर की शरण में जाना तो स्वीकार है, परन्तु यदि कोई तलवार लेकर मारने आ जाय और उसे मित्र मान कर हम बैठे रहें—अपने बचाव का प्रयत्न न करें—तब तो वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा। इस संबंध में यह बता देना आवश्यक है कि इस प्रकार का विकल्प परमात्मा के प्रति अनास्था का परिचायक है। जिसका हृदय परमात्मा की श्रद्धा से परिपूर्ण है, जिसे सम्पूर्ण श्रद्धा है, वह इस प्रकार की चिन्ता

कदापि नहीं करेगा। मैं पूछता हूँ, जब तलवार में करामात है, शक्ति है, तब क्या ईश्वर में करामात नहीं है ? ईश्वर में शक्ति नहीं है ? अथवा तुम्हारी बचाव की शक्ति से भी ईश्वर की शक्ति कम है ? क्या जड़ तलवार के मुकाबिले की भी ताकत ईश्वर में नहीं है ? तुम जिस ईश्वर की शरण में जाना स्वीकार करते हो, उसके विषय में तुम्हारा यही अभिमत है ? अगर ऐसा है तो तुम्हारा यहाँ आना और व्याख्यान सुनना वृथा हुआ।

बहिनो ! तुममें जो बहुएँ कहलाती हैं और जिन की सासू जीवित हैं, वे अपनी सासू से लड़-झगड़ कर विजय प्राप्त करने की शक्ति तो समझती हैं, पर यह क्यों नहीं समझती कि सासू हमें शिक्षा दे रही है। हमारी भलाई की खातिर ही हमें खरी-खोटी बात कहती है ?

तात्पर्य यह है कि परमात्मा के प्रति पूर्ण आस्था हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार की अद्भुत शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। उस शक्ति के सामने शत्रु भी मित्र बन जाता है।

अहिंसा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सिंह और हिरन, जो जन्म से ही विरोधी हैं, अहिंसक की जाँघ पर आकर सो जाते हैं। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां वैर त्यागः' अर्थात् जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर का नाश हो जाता है। अहिंसक के निकट जाति-विरोधी पशुओं के एकत्र निर्वैर निवास करने के उदाहरण आज भले ही न दिखाई पड़ते हों, फिर भी अहिंसा की शक्ति के उदाहरणों की कमी नहीं है। अहिंसा के आराधक महात्माओं की चरण-रेणु से हजारों को मारने वाला हत्यारा भी शुद्ध हो गया है।

मित्र प्रतीत होगा और संकट आत्मोन्नति का सुअवसर जान पड़ेगा। शत्रु बन कर आने वाला कहेगा—'मैं तेरा शत्रु हूँ, देख इस चमकती तलवार से तुझे मजा चखाता हूँ।' पर उसका आत्मा कहेगा—'हर्गिज नहीं। तुम मेरे शत्रु हो ही नहीं सकते। तलवार का प्रहार करके तुम मुझे पुराने ऋण से उऋण कर सकते हो। इससे मेरी शक्ति का विकास होगा। अतएव तुम मेरे मित्र हो। मैं पहले चिरकाल तक माया के चक्कर में फँसा रहा, उसका स्मरण दिलाने और भविष्य संबंधी चेतावनी देने तुम आये हो। तुम मेरे शत्रु कैसे हो सकते हो?'

सोमल ब्राह्मण ने जब गजसुकुमार मुनि के सिर पर अंगारे रक्खे थे, तब मुनि ने उसे शत्रु समझा था या मित्र माना था?

'मित्र!'

भगवान् नेमिनाथ ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर अंगार रखने वाले का परिचय, कृष्ण को क्या कह कर कराया था? विरोधी कह कर या सहायक कह कर?

'सहायक कह कर!'

आप कह सकते हैं—ईश्वर की शरण में जाना तो स्वीकार है, परन्तु यदि कोई तलवार लेकर मारने आ जाय और उसे मित्र मान कर हम बैठे रहें—अपने बचाव का प्रयत्न न करें—तब तो वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा। इस संबंध में यह बता देना आवश्यक है कि इस प्रकार का विकल्प परमात्मा के प्रति अनास्था का परिचायक है। जिसका हृदय परमात्मा की श्रद्धा से परिपूर्ण है, जिसे सम्पूर्ण श्रद्धा है, वह इस प्रकार की चिन्ता

कदापि नहीं करेगा। मैं पूछता हूँ, जब तलवार में करामात है, शक्ति है, तब क्या ईश्वर में करामात नहीं है ? ईश्वर में शक्ति नहीं है ? अथवा तुम्हारी बचाव की शक्ति से भी ईश्वर की शक्ति कम है ? क्या जड़ तलवार के मुकाबिले की भी ताकत ईश्वर में नहीं है ? तुम जिस ईश्वर की शरण में जाना स्वीकार करते हो, उसके विषय में तुम्हारा यही अभिमत है ? अगर ऐसा है तो तुम्हारा यहाँ आना और व्याख्यान सुनना वृथा हुआ।

बहिनो ! तुममें जो बहुएँ कहलाती हैं और जिन की सासू जीवित हैं, वे अपनी सासू से लड़-झगड़ कर विजय प्राप्त करने की शक्ति तो समझती हैं, पर यह क्यों नहीं समझती कि सासू हमें शिक्षा दे रही है। हमारी भलाई की खातिर ही हमें खरी-खोटी बात कहती है ?

तात्पर्य यह है कि परमात्मा के प्रति पूर्ण आस्था हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार की अद्भुत शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। उस शक्ति के सामने शत्रु भी मित्र बन जाता है।

अहिंसा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सिंह और हिरन, जो जन्म से ही विरोधी हैं, अहिंसक की जाँघ पर आकर सो जाते हैं। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां वैर त्यागः' अर्थात् जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर का नाश हो जाता है। अहिंसक के निकट जाति-विरोधी पशुओं के एकत्र निर्वैर निवास करने के उदाहरण आज भले ही न दिखाई पड़ते हों, फिर भी अहिंसा की शक्ति के उदाहरणों की कमी नहीं है। अहिंसा के आराधक महात्माओं की चरण-रेणु से हजारों को मारने वाला हत्यारा भी शुद्ध हो गया है

कहने का आशय यह है कि सूक्ष्म का भी उपकार मानो। स्थूल बुद्धि का परित्याग कर सूक्ष्म-दृष्टि बनो। स्थूल में ही मत पड़े रहो। पवन कितना सूक्ष्म है किन्तु वह आपकी कितनी सहायता करता है? विनम्र भाव से उसका उपकार स्वीकार करो और बदला चुकाने की चेष्टा करो। पवन नहीं चाहता की उसके उपकार का बदला उसी को चुकाया जाय। उसका बदला संसार का कल्याण करने वाले कार्यों के रूप में चुकाओ। परमात्मा का उपकार मानने का यही मार्ग है। इस मार्ग पर अग्रसर होओ। तुम बहुत-कुछ दूसरों का लेते हो तो दूसरों को थोड़ा भी चुकाओ—मगर चुकाओ जरूर। ऐसा करने से तुम्हारा ही कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १-८-३१.

५

काँटे मत बिखेरो

प्रार्थना

श्री मुनिसुव्रत साहवा, दीनदयाल देवां तणा देव के।
तरणतारण प्रभु मो भणी, उज्जवल चित समरूं नितमेव के ॥श्री०॥
हूँ अपराधी अनादि को, जनम-जनम गुन्हा किया भरपूर के।
लूटिया प्राण छ कायना, सेवियां पाप अढ़ार क्रूर के ॥श्री०॥

परमात्मा की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में भक्त ने अपना अन्तर खोल कर रख दिया है। जैसे पुत्र का यह धर्म है कि वह शर्म छोड़ कर, किसी भाव को छिपाये बिना, जैसा है वैसा ही

अपने पिता के सामने खड़ा होजाय, 'पिता से किसी प्रकार का दुराव न रक्खे' उसी प्रकार आत्मा का यह कर्त्तव्य है कि जब वह परमात्मा के सामने उसकी प्रार्थना करने के लिए खड़ा हो, तब रंच मात्र भी उससे दुराव न करे वरन् अपना वास्तविक रूप उसके सामने प्रकट कर दे।

यह आशंका हो सकती है कि पिता तो पुत्र की सब बारीकियाँ जान नहीं सकता, अतएव यह आवश्यक है कि पुत्र अपनी भलाई करने के लिए सब बातें साफ़-साफ़ पिता को बता दे, परन्तु परमात्मा के विषय में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। वह घट-घट की बात जानता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान सभी उसके ज्ञान में निरन्तर झलक रहे हैं। उसके सामने किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं ठहर सकता। वह पहले से ही सब-कुछ जानता है। ऐसी अवस्था में परमात्मा के सामने, पुत्र जैसे पिता के सामने खुलता है उस प्रकार खुलकर अपने समस्त दोषों को वाणी द्वारा व्यक्त करके उसे बताने की क्या आवश्यकता है ?

यदि आत्मा ने परमात्मा को पूर्ण भाव से स्वीकार कर लिया हो, आत्मा को परमात्मा का भान होगया हो, उसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह न रहा हो, तब तो प्रार्थना की भी जरूरत नहीं रहती। उस अवस्था में प्रार्थना किये बिना ही प्रार्थना हो जाती है। क्योंकि फिर कोई भूल होना संभव ही नहीं है। जिस प्रकार सूर्य के सामने अंधकार नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्मा से साक्षात्कार होने पर आत्मा में कोई भूल शेष नहीं रहती। किन्तु

आपको और हमको अभी तक परमात्मा से साक्षात्कार नहीं हुआ है। हम लोग अभी इस पथ के पथिक हैं। इसलिए प्रार्थना करके हमें परमात्मा से साक्षात्कार करने का मार्ग तय करना है। प्रार्थना में अपने दुर्गुणों को छिपाना नहीं चाहिए किन्तु प्रकट करना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा एक दिन परमात्मा से साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकेगा।

पुत्र की अनेक बातें पिता जानता है, लेकिन पुत्र यह नहीं सोचता कि पिताजी अमुक बात जानते हैं, अतएव उनसे यह बात न कही जाय। वह तो बिना आगा-पीछा सोचे सब बातें साफ़-साफ़ कह देता है। इसी प्रकार यह विचार न करके कि परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है अतः उसके सम्मुख कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, अपनी सब बातें परमात्मा के सामने प्रकट कर देनी चाहिए। जब इस प्रकार परमात्मा से किसी प्रकार का भेदभाव या दुराव न रक्खा जायागा तो आत्मा की परमात्मा से भेंट होगी और अन्त में दोनों एकमेक बन जायँगे। इसी बात को दृष्टि में रखकर भक्त लोग परमात्मा से कहते हैं—

पूरब अशुभकर कर्त्तव्यता,
तेहने प्रभु तुम न विचार के।
अधम उधाहरण विरुद छे,
सरन आयो अब कीजिए सार के॥ श्री मुनि०॥

हे प्रभो! इस जन्म से पहले मैं कहाँ, किस योनि में था और उस समय मैंने क्या-क्या पाप किये हैं, यह मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता, पर तुझे सब-कुछ मालूम है। मुझ में तो इतना

अधिक अज्ञान है कि मैं कल की बात आज ही भूल जाता हूँ। ऐसा भुलक्कड़ भला भवान्तर की बातें कैसे याद रख सकता है ? लेकिन तू मेरी सब बातों का साक्षी है, अतएव तू उन सब का जानकार है। मैं अपनी संबंधी बातें नहीं जानता, इसलिए मैं तो यही कहता हूँ कि मैं अधम हूँ और तू अधमों का उद्धार करने वाला है। मैं तेरी शरण आया हूँ। अपनी विरुद के अनुसार मेरी रक्षा कर। मेरी रक्षा करने से ही तेरे विरुद की रक्षा होगी।

प्रश्न होता है कि क्या अधम भी परमात्मा की प्रार्थना कर सकता है ? इसका उत्तर यह है कि धर्मी आदमी धर्म का ढोंग नहीं देखता। धार्मिक व्यक्ति सदैव अपनी त्रुटियों पर निगाह रखता है और आत्मा में तनिक-सी त्रुटि नजर आने पर यही कहता है कि मैं अधम हूँ। अगर मैंने पहले बुरे काम न किये होते, अगर मैंने परमात्मा से पूरी लौ लगाई होती, तो मुझ में तुच्छ पदार्थों के लिए दुःख की अनुभूति क्यों होती ? निस्सार एवं जड़ पदार्थों के लिए क्यों मैं दुःख सहता ? उनका वियोग होने पर शोक से संतप्त क्यों होता ? इन पदार्थों के चले जाने पर मेरा क्या जाता है ? मैं इनके लिए दुःखी क्यों बनूं ? मैं अपने आत्मिक साम्राज्य को भूलकर, बाहरी, विनश्वर और विपत्तिजनक राज्य की अभिलाषा क्यों करता ? मुझ में यह सब निर्बलताएँ विद्यमान हैं। अतएव प्रकट है कि मैं अधम हूँ।

जेती वस्तू जगत में, नीच नीचसे नीच।
तिन सब से मैं हूँ बुरा, फँस्यो मोह के बीच ॥

अर्थात् संसार में नीच से नीच जितनी वस्तुएँ हैं, मैं उन सब से भी नीच हूँ; क्योंकि मैं मोह के कीचड़ में फँसा हुआ हूँ।

मैं आप लोगों से पूछता हूँ, क्या आप अशुचि को बुरी नहीं समझते ?

'समझते हैं !'

अशुचि देख कर आपको घृणा आती है। लेकिन जिस पाखाने में अशुचि पड़ी होती है, उसीमें आप घुसते हैं, तब दुर्गन्ध आती है या नहीं ? आती तो है, लेकिन नित्य उसमें घुसते-घुसते आपकी घ्राण-शक्ति की तीव्रता मारी गई है। उसमें घुसने की आदत पड़ी होने से आप उस दुर्गन्ध को सह लेते हैं—घृणा नहीं करते।

इस लौकिक बात से आध्यात्मिक विचार करो। जिस कार्य को शुद्ध विवेक पहले-पहल बुरा कहता है, जिसके विचार मात्र से घृणा उमड़ पड़ती है, उसी को किसी प्रकार करते-करते आत्मा को जब अभ्यास हो जाता है तब वह घृणा कहाँ चली जाती है ? वास्तव में आत्मा की यह अवस्था अत्यन्त अधम अवस्था है। इससे अधम अवस्था और क्या होगी ?

भक्त जनों ने इस बात को स्वच्छ हृदय से स्वीकार करके इस प्रकार आत्मनिन्दा की है:—

> मो सम कौन कुटिल खल कामी।
>
> जो तम दीन ताहि विसरायो, ऐसो नौन-हरामी ॥ मो सम० ॥

भरि भरि उदर विषय-रस पीवत, जैसे शूकर ग्रामी ।

श्रीपति छोड़ और नर की मैं, आशा करत हरामी ॥ मो सम० ॥

कौन कहता है इस कथन में दीनता या कायरता है ? यह कथन वीरों की प्रार्थना है । कायरों से ऐसी प्रार्थना नहीं हो सकती । जो वीर नहीं है वह आप अपने अवगुणों को खुले आम जाहिर नहीं कर सकता । कायर अपनी बुराई को छिपाता रहता है और समझता है मैंने लोगों की आँखों में धूल झौंक दी है । लोग मेरे ऐबों को देख ही नहीं सकते । ज्ञानी जन अपनी बुराई को छिपाने का प्रयत्न ही नहीं करते । वे उसे ज्यों का त्यों प्रकट करके अपने हृदय का मलिन बोझ उतार कर हल्के हो जाते हैं । उन्हें मालूम है, छद्मस्थ से भूल होना स्वाभाविक है । केवल वीतराग भगवान् के सिवाय और सभी भूल के पात्र हैं । ऐसी स्थिति में किसी भूल को छिपाने के लिए छल-कपट और मिथ्या का आश्रय लेकर नवीन पाप बाँधने से क्या लाभ है ? अपनी भूल को छिपाने का प्रयास करना अज्ञान है, मूर्खता का लक्षण है ।

जो लोग अपने अवगुणों को बड़े यत्न से छिपाकर अन्तः-करण में सुरक्षित रख छोड़ते हैं, उनका हृदय उन अवगुणों का स्थायी निवास-स्थान बन जाता है । इसके अतिरिक्त उसे सदा इस बात कि चिन्ता रहती है कि कभी किसी प्रकार मेरे अवगुण प्रकट न हो जाएँ । वह सदा भयभीत रहता है; दबा रहता है । खुल कर बात करने में उसे मन ही मन लज्जा होती है ।

भूल हो जाना अच्छी बात नहीं है, पर उस भूल को छिपा

कर अपने आपको भूल-रहित प्रकट करने की भूल करना बहुत ही जघन्य कृत्य है। अधिक से अधिक सावधान रह कर भूल न होने देने की चेष्टा करो, पर फिर भी अगर भूल हो जाय तो सच्चे मर्द की तरह उसे स्वीकार कर लो। उसे प्रकट कर दो। उसे दबाने की रंच मात्र भी चेष्टा मत करो। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा को हर्गिज़ धक्का न पहुँचेगा। अगर प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो तो भी परवाह मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा आत्मबल बढ़ेगा और तुम अपनी नज़रों में आप ही गिरने से बच सकोगे।

ज्ञानी जन कहते हैं, मैं दूसरे के दोषों के विषय में क्या कहूँ ? मुझ-सा कुटिल और कामनाओं से कलंकित दूसरा कौन है ? बस, मुझ-सा पापी मैं ही हूँ। मुझ-सा कामी अकेला मैं हूँ। दुर्गुणों में मेरी समानता करने वाला और कोई नहीं है।

ज्ञानवान् पुरुष दूसरों की दलीलों में नहीं पड़ते। वे अपने आपको अपनी ही तराजू पर तौलते हैं। थोड़ी-सी भूल हो जाने पर उसे हिमालय-सी भूल समझते हैं। वे अपने को दोष का पात्र प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, देखो मेरी दुष्टता का, मेरे नमक-हरामीपन का कहीं ठिकाना है कि जिसकी कृपा से मैंने यह मानव-तन पाया है, उसी को मैं भूल रहा हूँ !

आप सोचते होंगे—यह शरीर किससे मिला है ? इसके उत्तर में मैं कह सकता हूँ कि निमित्त कारण को दृष्टि में रखने से यह शरीर ईश्वर से मिला है। शरीर ईश्वर की कृपा से कैसे मिला, यह समझने के योग्य बात है।

जब आप लोग 'लोगस्स' का पाठ बोलते हैं तब कहते हैं कि प्रभो ! हमें उत्तम समाधि और सिद्धि प्रदान कीजिए। इसी प्रकार 'आरुग्गबोहिलाभं' अर्थात् आरोग्य और बोधि की याचना का पाठ भी बोलते हैं। और आप यह भी कहते हैं:—

कामधेनु गौ शब्द से, तत्त तरु कल्पवृक्ष ।
मम्मं मणि चिन्तामणी, 'गौतम' नाम प्रत्यक्ष ॥

अर्थात् गौतम स्वामी का नाम कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि है—सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला है।

आप यह प्रार्थना करते हैं सो इसमें सचाई है या नहीं ? जिससे यह प्रार्थना करते हो वह देता है या नहीं ? यदि नहीं देता तो फिर इतना जानते-बूझते भी क्यों प्रार्थना करते हो ? लकड़ियों के साथ आग होने पर ही उसे जलाने के लिए फूंक मारी जाती है। बिना आग खाली लकड़ी जलाने के लिए कोई फूंक मारता दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार भगवान् से अगर कुछ भी न मिलता हो, वह कुछ भी न देता हो, तो उससे देने की प्रार्थना ही क्यों की जाय ?

अपने सुख-दुःख में आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा को अनादि काल से जो असंख्य योनियों में चक्कर लगाना पड़ रहा है, उस सब का उपादान कारण आत्मा स्वयं ही है। मुक्ति प्राप्त करने में भी आत्मा ही उपादान कारण है। आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा में भी आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा के अतिरिक्त जिस कार्य में जो कारण होते हैं, चाहे वे साक्षात् कारण हों चाहे परम्परा कारण हों, वे सब निमित्त कारण कह-

लाते हैं। उदाहरण के लिए घड़े को लीजिए। घड़े का बनना एक कार्य है। इसमें मिट्टी उपादान कारण है और मिट्टी के सिवाय चाक, कुंभार, डोरी, डंडा आदि निमित्त कारण हैं। उपादान कारण स्वयं कार्य-रूप में परिणत हो जाता है और निमित्त कारण कार्य में सहायता करके, अलग हो जाता है।

जिस प्रकार मोक्ष पाने में ईश्वर निमित्त है उसी प्रकार मनुष्य शरीर पाने में भी वह निमित्त है। परमात्मा निमित्त रूप से कर्त्ता है, यह बात मैं अपने दूसरे व्याख्यान में स्पष्ट कर चुका हूँ; अतएव यहाँ फिर उसके विस्तार की आवश्यकता नहीं है। स्याद्वाद का मर्म जानने वाले लोग इस विषय में सन्देह नहीं कर सकते।

परमात्मा की भक्ति और स्तुति करने से तथा परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट पथ पर चलने से संवर-निर्जरा के अतिरिक्त पुण्य की भी प्राप्ति होती है। उस पुण्य के योग से मनुष्य शरीर मिलता है। ऐसी स्थिति में मानव-तन की प्राप्ति में परमात्मा निमित्त कारण है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आज आप लोगों को जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, अथवा अनिष्ट पदार्थ का वियोग हो जाता है, तब आप कहते हैं—'महाराज की कृपा से ऐसा हुआ है।' क्या यह बात झूठ कहते हो? अथवा हम आपके उस काम को करने आते हैं? नहीं। लेकिन इसका तात्पर्य यही है कि यह कार्य पुण्य, महात्मा, अरिहन्त या धर्म का सेवन करने से, अतएव उनके प्रताप से, सम्पन्न हुआ है। ऐसा मानने और कहने से अभिमान की वृद्धि

नहीं होती। इससे विनम्रता का भाव उदित होता है और धर्म-सेवन, महात्माओं की भक्ति, ईश्वर की आराधना आदि पवित्र कार्यों को करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इससे पुण्याई घटती नहीं है, बढ़ती है।

'महाराज का प्रताप है'—यह बात अगर आप कपटाचार सेवन करने के लिए कहते हों तब तो बात दूसरी। अगर इस कथन में आपके दिल की सचाई है तब समझ लेना चाहिए कि जो वस्तु जिसके प्रताप से मिली है वह उसी को समर्पित होनी चाहिए। जिसका प्रताप है उसे पीछे हटा देना, उसे भूल जाना, कृतज्ञता नहीं है, ईमानदारी नहीं है? अगर इस ऊँचाई तक आज पहुँचने का सामर्थ्य न हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। पर आदर्श वही होना चाहिए। प्रत्येक प्रयास उसी ऊँचाई पर पहुँचने के लिए करो। ऐसा करने से एक दिन वहाँ अवश्य पहुँच जाओगे।

सब-कुछ परमात्मा के प्रताप से मिला है, ऐसा कहने पर भी यदि भगवान् का कोई काम रुक जावे और उस समय आप चुप-चाप बैठ रहें तो आप क्या कहलाएँगे? यह बात दूसरी है कि धन और धर्म—दोनों रहें, परन्तु दोनों में से एक के जाने का अवसर आवे, तब धर्म और परमात्मा को न जाने दें, उनकी उपेक्षा न करे, यही मानव-तन पाने का फल है।

मैंने कहा था—

> जो तन दीन ताहि बिसरायो,
>
> ऐसो नोनहरामी शमो सम०॥

अन्तःकरण के यह मार्मिक उद्गार किसी एक के नहीं हैं, सभी के हैं। यह उद्गार एक भक्त के होते तो भक्त चुपचाप प्रार्थना कर लेता, पद्य बना कर सब के सन्मुख न रखता। भक्त ने पद्य बनाकर सर्वसाधारण के समक्ष रक्खा है, इस प्रयोजन से कि इस दर्पण में सब लोग अपना-अपना मुँह देखें और जो धब्बे लगे हैं उन्हें पोंछ डालें।

अगर कोई किसी से यह कहता है कि 'यह सब आपका ही प्रताप है, सभी कुछ आपकी दया का फल है' और जब अवसर पड़ता है तो उसी की जड़ काटने को उद्यत होजाता है तो यह हरामीपन है या नहीं ? अगर कोई राजा दुपट्टा भेंट देता है तो क्या उससे उसी के पैर बाँधना उचित है ? संसार में ऐसा हो रहा है। इसीलिए भक्त कहते हैं—प्रभो ! जिसके प्रताप से मुझे शरीर मिला है उसे तो मैं भूल बैठा हूँ और दूसरे 'मेरे' बन गये हैं। यह मेरी नमक-हरामखोरी है।

बच्चा, बाप से पैदा होता है और माँ उसे जन्म देती है। अतएव बच्चे पर माता-पिता का असीम उपकार है। ईश्वर का जो उपकार है और उसे जिस प्रकार भूल बैठे हैं, यह बात तो दूर रही; पहले माता-पिता के उपकार के विषय में ही कहता हूँ।

बालक अपने पिता से उत्पन्न हुआ और माता ने उसे जन्म दिया, अतएव यह कहा जा सकता है कि यह शरीर माता-पिता ने दिया है। लेकिन बहुत-से लोग माता-पिता के महान् उपकार का विस्मरण करके, पीछे से आई हुई स्त्री के मनोहारी

हाव-भाव से मुग्ध होकर, उसकी सम्मोहिनी माया के जाल में फँस कर माता-पिता के शत्रु बन जाते हैं और स्त्री की उँगली के इशारे पर नाचते हैं। वह जिस प्रकार नचाती है, पुरुष बन्दर की तरह उसी प्रकार नाचता है। कई लोग तो माता-पिता को इतनी पीड़ा देते हैं कि सुन कर हृदय मर्माहत हो उठता है। उन्हें अपशब्द सुनाने, मार-पीट करने तक की घटनाएँ घटती हैं। यह सब बातें मनुष्य की कितने दर्जे की कृतघ्नता सूचित करती हैं ? स्त्री को भी जाने दीजिए, क्या वेश्या के माया-पाश में फँस कर बहुत-से लोग अपने माता-पिता का तिरस्कार नहीं करते ?

जिस माता ने अपने यौवन के सौन्दर्य की परवाह न करके, अपने हृदय के रस से बालक के प्राणों की रक्षा की, जिसने नौ मास और कुछ दिनों तक अपने उदर में रख कर बालक को बढ़ाया, उसकी रक्षा के लिए संयम से रही, प्रसव के पश्चात् जिसने सब प्रकार की घृणा को ममता के ऊपर निछावर कर दिया, जो बालक पर अपना सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहती है, जिसकी बदौलत पुत्र, पत्नी पाने के योग्य बना, जिसने अपने पुत्र और पुत्रवधू से अनेकानेक मधुर मंसूबे बाँधे, उसी माता की असहाय वृद्धावस्था में जब दयनीय दशा होती है और वह भी अपने पुत्र के हाथ से, तब उस 'पूत' को क्या कहा जा सकता है ?

भक्त जन कहते हैं—'हे प्रभो ! मेरी दशा भी उस कपूत बालक के समान ही है। मुझे यह शरीर धर्म या ईश्वर से मिला है।

लेकिन मैं उसे भूलकर माया रूपी वेश्या पर—जो क्षण-क्षण में नये-नये सिंगार करती है—नखरे दिखलाती है और आत्मा को केवल धोखा देना जिसका काम है—आसक्त बना हूँ। माया की मोहिनी में फँस कर मैंने अपने पैर पर आप ही कुल्हाड़ा मारा है। मैं स्वयं अपने पथ में काँटे बिखेर रहा हूँ।'

एक वे हैं जो ऊपर-ऊपर से ही साधु या श्रावक बनते हैं; और दूसरे वे हैं जो अन्तरतम से परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। दोनों में बड़ा अन्तर है। सच्चा भक्त वही है जो माया के फंदे में न फँसे। माया बड़ी छलनी है। उसने चिरकाल से नहीं, अनादि काल से, जीवात्मा को भयंकर भुलावे में डाल रक्खा है।

माया ! तूने किस-किस को भरमाया ।
ताको अन्त पार नहिं पाया ॥निगोडी माया०॥
राजा राणा और बादशाह मा्या में मन लाया ।
मेरा मेरा करि धन मेला, अन्त अकेला सिधाया ॥नि०॥

आत्मा को भुलाने वाली माया है। माया का बाह्य रूप जितना सुन्दर और मनोहर है, भीतर से उतना ही वीभत्स और घृणास्पद है। इसे चाहे माया कहो, कर्मप्रकृति कहो, चाहे मोह-दशा कहो। आत्मा उसी के छल में पड़ कर, उसी की भूलभुलैया में फँस कर अपना आपा भूल रहा है।

जिन्होंने दिल्ली का किला बनवाया था वे उसे अपना नहीं कहते थे ? क्या उस किले को सामने खड़ा देखकर उनका हृदय अभिमान से फूल न उठता होगा ? वह दुर्ग उनके गौरव की चीज नहीं समझा गया था ? क्या वे जानते और मानते थे कि

यह किला किसी दिन हमारे और हमारे वंशजों के हाथ से निकल जायगा और तीसरे के अधिकार में चला जायगा ?

ऐसे-ऐसे किले बनवाने वाले भी संसार में नहीं रहे। फिर भी इन किले आदि वस्तुओं को देखकर आपको वैराग्य होता है ?

'नहीं !'

तो फिर उस तन देने वाले को भूलकर किसी और के चक्कर में पड़े हो कि नहीं ?

आत्मन् ! तूने यदि यह प्रार्थना सच्चे भाव से, अन्तःकरण से की होगी तो तेरा चक्कर समाप्त हो जायगा; तेरे भीतर जो त्रुटियाँ छिपी हुई हैं, उन्हें निकाल कर तू परमात्मा से प्रार्थना करेगा और इस ओर तेरा कदम आगे ही आगे बढ़ता चला जायगा। तू पीछे पैर न देगा। ऐसा करने से तेरी निर्बलता का अन्त आएगा। आत्मा में अनंत शक्ति आविर्भूत होगी।

हे प्रभो ! मेरे पाप का प्रायश्चित इस तरह होगा कि मैं तेरे मार्ग में यदि फूल न बिखेर सकूँगा तो काँटे भी नहीं बिखेरूँगा। यही नहीं, तेरे मार्ग में बिखरे हुए काँटे बीनूँगा, भले ही वे काँटे किसी के ही बिखेरे हुए क्यों न हों।

मित्रो ! यह संसार परमात्मा का घर है। इसमें रहने वाले मनुष्यों के लिए जितने काँटे मनुष्यों ने बिखेरे हैं उतने किसी ने किसी प्राणी के लिए नहीं बिखेरे। मनुष्य, मनुष्य के साथ जैसा सलूक करता है, वैसा कोई राक्षस भी मनुष्य के साथ नहीं करता। मनुष्य के लिए मनुष्य ही सब से अधिक खतरनाक है। आज मनुष्य ने मनुष्य को जैसे घोर संकट में डाल रक्खा है

वैसा संकट कोई और पैदा नहीं कर सकता। मनुष्य की यह स्थिति देखकर अनायास ही मुँह से निकल जाता है कि वर्त्तमान कालीन स्वार्थी मनुष्यों में पशुता के भी उज्ज्वल अंश नजर नहीं आते। ऐसे मनुष्यों के साथ पशुओं की तुलना की जाय तो पशुओं की अपेक्षा मनुष्य ही निकृष्ट सिद्ध होगा। वह अपने बुद्धिवैभव के कारण पतन के मार्ग में अधिक कौशल के साथ अग्रसर हो रहा है। ईश्वर ही जाने, कहाँ उसके मार्ग का अन्त होगा ? न जाने किस निविड़ अंधकार में जाकर वह रुकेगा ?

ऐसी स्थिति में मनुष्य के साथ प्रेम करना, मैत्री स्थापित करना, यही ईश्वर के पथ के कंटकों को बीनना है। ऐसा करके ही मनुष्य अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त कर सकता है। परमात्मा के साथ मिलाप होने का भी यही मार्ग है।

हमारे अकेले के प्रयास से क्या होगा ? ईश्वर के मार्ग में काँटे बिखेरने वाले बहुत हैं। मैं अकेला कितने काँटे बीन सकूंगा ? जब पूरा आसमान फट पड़े तो थेगली कहाँ-कहाँ लगाई जाय ? इस प्रकार का कायरता का विचार मत करो। यह कर्त्तव्य से विमुख बने रहने का बहाना है। तुम्हें दूसरों के विषय में सोचने का अवकाश ही क्यों मिलता है ? तुम्हारे सामने कर्त्तव्य का पहाड़ खड़ा है। इससे तुम्हें फुर्सत ही कहाँ है ? यह विचार छोड़ो कि दूसरे क्या करते हैं या क्या नहीं करते ? जो कुछ कर्त्तव्य है उसे अकेले ही करना पड़े तो किये चलो। दूसरे के विषय में तनिक भी न सोचो।

भक्त सोचता है कि मैं परमात्मा के मार्ग के काँटे उठाकर

आत्मशुद्धि कर रहा हूँ। भले ही मैं एक ही काँटा उठा सकूं, लेकिन एक काँटा उठाने से भी मेरी गणना काँटे बिखेरने वालों में तो न होगी ! मैं काँटे उठाने वालों में ही गिना जाऊँगा।

कई लोग कहते हैं— हमारे अकेले के खादी पहनने और चर्बीवाले विलायती वस्त्र त्यागने से ही स्वराज्य मिल जायगा ? लेकिन यह विचार भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार का तर्क आत्मप्रतारणा है। इससे आत्मा अधःपतन के गर्त्त में गिरता है। वास्तव में जो सभी के लिए उपादेय है वह एक के लिए उपादेय क्यों नहीं है ? प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि भारतवर्ष में अन्न-वस्त्र के कष्ट के मारे त्राहि-त्राहि मच रही है। करोड़ों आदमियों को भरपेट भोजन नहीं मिलता और तन ढँकने को वस्त्र नहीं मिलता। मानव-दया के लिए यह स्थिति शीघ्र से शीघ्र समाप्त हो जानी चाहिए। पर इसकी समाप्ति का उपाय क्या है ? वह यही है कि इस देश की जो विपुल सम्पत्ति कच्चे माल—रूई आदि के रूप में बाहर जाती है उसे रोका जाय। इससे गरीबों को निर्वाह के साधन मिलेंगे और जो वस्तु विलायत से आकर महँगे मोल में मिलती है, वही यहाँ तैयार होकर सस्ते भाव में मिल सकेगी। देश की बहुत-सी सम्पत्ति देश में ही रह जायगी। गरीबों को सांस लेने का अवसर मिलेगा और उनकी अवस्था में सुधार होगा। ऐसा विचार कर समझदार लोग विदेशी वस्त्र त्याग देते हैं। इस प्रकार काँटे उठाने लगा तो चाहे वह एक ही काँटा उठा सके, लेकिन काँटे उठाने वाले लोगों में तो सम्मिलित हो गया।

ज्ञानी जन संसार की ओर आँखें फाड़ कर नहीं देखते।

उनकी दृष्टि अपनी ओर लगी रहती है। वे सोचते हैं, मुझे संसार का अनुकरण नहीं करना चाहिए वरन् संसार को मेरा अनुकरण करना चाहिए। मैं दूसरों की देखादेखी कूप में गिरना नहीं चाहता तो उनकी देखादेखी अपने कर्त्तव्य से विमुख क्यों बनूं ? मुझ पर संसार का उत्तरदायित्व नहीं है, मैं अपनी ही जवाबदारी निभा सकूं तो गनीमत है। मुझे अपने लिए ही उत्तरदायी होना पड़ेगा।

चालाबाजियों से काम लेने वाले लोग धर्म का मर्म नहीं समझते। इसीसे उनका पैर सत्य पर नहीं टिकता।

वस्त्रों की भाँति और भी कई काँटे मनुष्यों ने बिखेर रक्खे हैं। फिर भी आश्चर्य है कि ऐसे लोग अपना पाप छिपाकर धर्मात्मा बनने का प्रयास करते हैं। कोई पाप छिपाने का प्रयास करे सो भले ही करे, पर पाप छिप नहीं सकता। उसका कार्य चिल्ला-चिल्ला कर उसके पापों की घोषणा कर देगा। वह बता देगा कि वह पापी है या पुण्यात्मा है!

मित्रो! सत्य की शरण में पहुँचो। निष्कपट भाव से अपनी यथार्थता खोल कर रख दो। अपने आत्मा को देखो और परमात्मा से प्रार्थना करो कि—'हे प्रभो! मुझ-सा पापी दूसरा नहीं है।' इस प्रकार की प्रार्थना करने से, अपने अपराध खोजते रहने से अभिमान गलता है, सत्य प्रकट होता है। इससे कल्याण की प्राप्ति होती है।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १६-८-३१
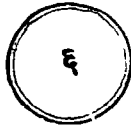
नौ तत्त्व
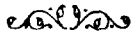
प्रार्थना

विजयसेन नृप विप्रा रानी नमिनाथ जिन जायो ।
चौसठ इन्द्र कियो मिलि उत्सव, सुर नर आनँद पायो रे ॥
सुज्ञानी जीवा भज ले रे जिन इक्कीसवाँ ॥ टेर ॥
भजन कियां भव-भवनां दुष्कृत, दुख दुर्भाग्य मिट जावे ।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्मति निकट न आवे ॥ सु० ॥
जीवादिक नव तत्त्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे ।
तीजो उपादेय ओलखीने, समकित निर्मल कीजे ॥ सु० ॥

नमिनाथ भगवान् की इस प्रार्थना में परमात्म-स्तुति के साथ ही साथ तत्त्व का ज्ञान भी कराया गया है। जो मुमुक्षु परमात्म-

स्वरूप के जिज्ञासु हैं और जो ईश्वर में ध्यान लगाने के इच्छुक हैं, उन्हें परमात्मा से भेंट करने के लिए कौन-सा मार्ग पकड़ना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में इस प्रार्थना में यह कहा है कि परमात्मा से भेंट करने का सीधा मार्ग उसका भजन करना है।

'भजन' शब्द, भज्-सेवायाम् धातु से बना है। 'भजन' का अर्थ है परमात्मा की सेवा करना।

परमात्मा से भेंट करने का सरल और सुगम मार्ग भजन है। यह मार्ग सभी के लिए उपयोगी है। चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, पुरुष हो या स्त्री हो, नीच हो या उच्च हो, धनवान् हो या निर्धन हो, भजन का मार्ग सब के लिये खुला है। इस मार्ग में यह सब ऊपरी भेद मिट जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा का भजन क्या है ? परमात्मा का नाम लेना ही भजन है या कुछ और ? इसका उत्तर यह है कि भगवान का नाम लेना भी भजन है अवश्य, लेकिन भजन का खास अर्थ ईश्वरीय तत्त्व की उपासना करना है।

भगवान् ने नौ तत्त्व बताये हैं। इन नौ तत्त्वों के तीन वर्ग किये गये हैं। तीन तत्त्व ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य हैं, तीन हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं और तीन तत्त्व उपादेय अर्थात् ग्राह्य हैं।

आप लोगों को नव तत्त्वों के नाम आते ही होंगे, क्योंकि जैनधर्म का सम्पूर्ण सार नव तत्त्वों में ही है। जैन शास्त्र इन्हीं तत्त्वों की व्याख्या हैं। मुमुक्षु पुरुष को इनका ज्ञान अनिवार्य है। इन्हें जाने बिना आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता।

तत्त्वों की संख्या नौ बताई गई है सो साधारण मति वालों की सुगमता के लिए। इन सब का समावेश दो ही तत्त्वों में हो जाता है। जीव और अजीव, इन्हीं दो में सम्पूर्ण जगत् समाविष्ट हो जाता है। जगत् में यों तो अनन्त-अपरिमित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उनका वर्गीकरण करने से ज्ञात होता है कि मूल में दो ही पदार्थ हैं, शेष सब इन्हीं दो पदार्थों के सम्मिश्रण आदि से तैयार हुए हैं अथवा इन्हीं दो की कोटि के हैं। इस प्रकार जड़ और चेतन ही मूल-भूत पदार्थ हैं।

आप कह सकते हैं कि जब दो ही तत्त्वों में सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो जाता है तब नौ भेद करने की आवश्यकता क्या थी? इसका उत्तर यही है कि बहुत संक्षेप में बुद्धिमान् ही वस्तु-स्वरूप को ठीक तरह समझ सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं। अतएव मध्यम रूप से तत्त्व के नौ भेद करके इस प्रकार समझाया गया है कि जिससे न अधिक संक्षेप हो और न अधिक विस्तार ही हो और सब की समझ में सुगमता से आ जाय। यही दृष्टि सामने रख कर गणधरों ने तत्त्व के नौ भेद मध्यम अपेक्षा से निरूपण किये हैं।

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है। ज्ञानियों का कथन है कि प्रधान तत्त्व जीव ही है, क्योंकि जीव-तत्त्व चेतना से युक्त है अतएव उसे चेतन भी कहते हैं। जड़ तत्त्व का परिज्ञान करते और कराने वाला जीव ही है। इसी चिदानन्द ने संसार के तत्त्व बताये हैं।

जीव सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द शब्द सत् + चित् +

आनन्द के योग से बना है। जो है और सदैव रहेगा तथा भूत-काल में सदा रहा है, जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता, वह सत् कहलाता है। त्रिकाल में जिसकी सत्ता अखंड बनी रहती है वह 'सत्' है।

प्रश्न होता है, जीव यदि सत् है तो क्या जड़ का विनाश हो जाता है? अगर जड़ तत्त्व भी अविनाशी है तो जीव को 'सत्' कहने का क्या प्रयोजन है? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक सत् पदार्थ अविनश्वर ही होता है। जैसे जीव का नाश नहीं होता उसी प्रकार जड़ का भी नाश नहीं हो सकता; केवल रूपान्तर होता है।

अगर दोनों ही तत्त्व अविनाशी हैं तो दोनों में अन्तर क्या है? इसका उत्तर यह है कि जड़ सिर्फ सत् है और जीव सत् होने के साथ चित् एवं आनन्दमय भी है। जड़ में चित् और आनन्द गुण नहीं हैं, जब कि जीव चिन्मय और आनन्दमय है। जीव में विज्ञान की ज्योति है। वह स्व और पर का प्रकाश करने वाला है। जड़ जीव द्वारा प्रकाशित होता है।

अपना यह हाथ, जो चर्म-चक्षु से दिखाई देता है, चैतन्य-रूप नहीं है। यह नहीं जानता कि मैं हाथ हूँ। लेकिन हाथ को जानने वाला, हाथ संज्ञा प्रदान करके 'यह हाथ मेरा है' यह कहने वाला जीव ही है। इस प्रकार ज्ञान की सत्ता वाला 'चित्' है।

तीसरा शब्द 'आनन्द' है। आनन्द जीव का स्वभाव है। संसारी जीव उस स्वाभाविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते,

उसकी ओर उनका बहुत कम ध्यान जाता है। वे विषय-जन्य इन्द्रिय-सुख में ही मग्न रहते हैं। यह इन्द्रियानन्द स्वाभाविक सुख का विकार है। यह सुख परावलंबी है। प्रथम तो वह संसार की भोग्य वस्तुओं पर अवलंबित है और दूसरे इन्द्रियों पर आश्रित है। इन दोनों का संयोग मिल जाने पर अगर सुख का उदय होता है तो भी वह क्षणिक है, अल्पकाल तक ही ठहरता है। अल्पकाल तक ठहरने वाला सुख भी परिमित है और विघ्न-बाधाओं से व्याप्त है। न जाने कब, किस क्षण कोई महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है और वह सारे सुख को घोर दुःख में परिणत कर देता है। प्रातःकाल जहाँ आनन्द-मंगल होता है, बधाइयाँ बजती हैं, संध्या समय वहीं हाय-हाय मच जाती है।

कदाचित् तीव्र पुण्य के उदय से कोई विघ्न उपस्थित न हो तो भी विषय-सुख सदा विद्यमान नहीं रह सकता। क्योंकि यह सुख विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है और 'संयोगा हि वियोगान्ता:' —संयोग का फल निश्चित रूप से वियोग ही है—इस कथन के अनुसार विषय-सामग्री का वियोग हुए बिना नहीं रह सकता और उस समय में अथवा जीवन के अन्त में उस सुख का नाश अवश्यमेव हो जाता है।

इस विषय-सुख में एक बात और है। बिना आरंभ-परिग्रह के यह सुख ही नहीं हो सकता और आरंभ-परिग्रह पाप के कारण हैं। पाप दुःख का कारण है। अतएव यह सुख, दुःख का कारण है।

मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने से जो सुख होता

है और उस सुख के फलस्वरूप जितना दुःख होता है उतना ही दुःख विषय-जन्य सुख भोगने से होता है। अतएव ज्ञानी-जन इस सुख को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मन इस ओर कभी आकृष्ट नहीं होता। वे अन्तरात्मा के अनिर्वचनीय, असीम, अनन्त और अव्याबाध सुख की खोज में लगे रहते हैं। वही सुख सच्चा सुख है। उसमें दुःख का स्पर्श भी नहीं होता। वही आत्मा का स्वरूप है और 'आनन्द' शब्द से यहाँ उसी का ग्रहण किया गया है।

यहाँ एक आशंका और की जा सकती है। वह यह कि जब आत्मा अविनाशी है, ज्ञानघन है और आनन्दमय है तो सुषुप्त-अवस्था में वह कहाँ चला जाता है? उस समय शरीर ऐसा पड़ा रहता है जैसे इसमें चैतन्य का सद्भाव ही न हो। इसका कारण क्या है?

सुषुप्त-अवस्था में आत्मा न कहीं चला जाता है, न जड़ ही बन जाता है। आत्मा उस अवस्था में भी अपने स्वरूप को देखता रहता है। अलबत्ता उस समय मन और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का विशेष सम्बंध न रहने से आत्मा ऐसा बन जाता है मानो ढँका हुआ दीपक हो। उस पर जड़ का पर्दा-सा पड़ जाता है।

आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं-(१) स्वप्न (२) जागृति और (३) सुषुप्ति। इन तीनों ही अवस्थाओं में आत्मा की अविनश्वरता और चेतनता अखंड बनी रहती है।

इस समय जब हम सब लोग जाग रहे हैं, तब जो कुछ

देख-सुन रहे हैं वह सोते समय इसी प्रकार दिखाई देता है ?

'नहीं !'

लेकिन स्वप्न अवस्था में आत्मा एक नई सृष्टि बना लेता है। नई सृष्टि बना लेने का अर्थ यह नहीं है कि स्वप्न में कोई एकदम अदृष्ट या अश्रुत पदार्थ की रचना करता है। नई सृष्टि कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जागृत अवस्था में जिन वस्तुओं को देखते या सुनते हैं, उन सब के सम्मिश्रण से स्वप्न में निराली ही वस्तु बन जाती है। जागृत अवस्था में देखी हुई अनेक चीजें मिलकर एक अद्भुत-सी चीज बन जाती है। वास्तव में स्वप्न दशा में एकान्त अदृष्ट, अश्रुत अथवा अननुभूत पदार्थ प्रतीत नहीं होता। स्वप्न क्या है ? इस संबंध में शंकराचार्य ने कहा है—

> इन्द्रियाणामुपरमे, मनोऽनुपरतं यदि ।
> सेवते विषयानेव, तद् विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥

अर्थात्—जिस अवस्था में इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं किन्तु मन निश्चेष्ट नहीं होता—मन की प्रवृत्ति जारी रहती है, वह अवस्था स्वप्न कहलाती है।

स्वप्न में आत्मा खाता-पीता है, स्पर्श करता है, देखता है, सुनता है तथा भय और शोक का भी अनुभव करता है। आत्मा उस समय नहीं जानता कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। प्रकट में भी शरीर हिलता-डुलता नहीं दिखाई देता। इसीसे ऐसा संदेह होने लगता है कि उस समय आत्मा कहाँ चला जाता है ? लेकिन चाहे तुम्हें आत्मा या मन की चेष्टा दीखती

न हो, परन्तु वह उस समय होती अवश्य रहती है। मन जागृत अवस्था के समान स्वप्न-अवस्था में भी अपनी प्रवृत्ति करता रहता है। स्वप्न देखते ही अगर किसी ने उसे जगा दिया तो वह अपने स्वप्न का वृत्तान्त कहेगा और बतलायेगा कि मैंने यह किया, वह किया। उसका उत्तर सुन करके भी समझ सकते हो कि भले ही उसकी कोई शारीरिक चेष्टा तुम्हें दिखाई न पड़ी हो, फिर भी उसका मन, जो आत्मा की ही शक्ति-विशेष है, उस अवस्था में भी रमण कर रहा था।

स्वप्न-अवस्था में मन और आत्मा प्रवृत्ति करता रहता है, यह बात तो स्पष्ट हो चुकी। अब सुषुप्ति-अवस्था का भी विचार करना चाहिए। सुषुप्ति-अवस्था में चेतना के विद्यमान रहने में क्या कोई युक्ति है ?

कोई पुरुष गहरी नींद में सोया हो और जब वह सो कर जागे तो उससे पूछो कि तुम क्या कर रहे थे ? वह कहेगा—मैं आनन्द में सोया था। मीठी-मीठी नींद आ रही थी, इत्यादि।

यह आनन्द की नींद निरोगी और निश्चिन्त को ही नसीब होती है—सब को नहीं। मगर यहाँ तो यह समझना है कि सोने वाला भी सुषुप्ति-अवस्था में आनन्द का अनुभव करता है। निद्रित अवस्था में भी निद्रा के माधुर्य की अनुभूति यह सिद्ध करती है कि चेतना उस अवस्था में भी विद्यमान रहती है।

आनन्द की नींद के संबंध में एक बात और कह देना चाहिए। जाग उठने वाला कहता है कि मैं आनन्द में सोया था, परन्तु उस समय वह क्या कुछ खा-पी रहा था ? नाटक-सिनेमा

देख रहा था ? नहीं। तो फिर निद्रा के समय उसे किस चीज का आनन्द आ रहा था ? विचार करने से प्रतीत होता है कि वह एकाग्रता का अद्भुत आनन्द अनुभव कर रहा था। एकाग्रता में बड़ा आनन्द है।

जैसे शयन-अवस्था संबंधी एकाग्रता में मनुष्य आनन्दानुभव करता है, उसी प्रकार यदि मोहदशा से—मोहजन्य संकल्प-विकल्पों से, निवृत्त होकर आत्मचिन्तन में एकाग्रता धारण करे तो उस सुख का पारावार नहीं रहेगा। निद्रा की एकाग्रता भी जब सुख का कारण होती है तो जागृत अवस्था की एकाग्रता कितना सुख न पहुँचाएगी ? मोहदशा से अतीत होकर आत्म-चिन्तन के समय जो सुख मिलता है, वही सच्चा सुख है और वही सुख आत्मा का आनन्द गुण है।

हम आज अनन्त आत्मिक आनन्द के अधिकारी नहीं है, इसका एक मात्र कारण यही है कि हमारे साथ यह तीनों अव-स्थाएँ लगी हुई हैं। जड़ के संयोग से ही आत्मा दुःखी है।

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अर्थात्–जीव जिस दुःख-परम्परा को भुगत रहा है उसका मूल कारण संयोग ही है।

अनादि काल से जड़ का चेतन के साथ संसर्ग हो रहा है। जब तक चैतन्य के साथ जड़ के रहने का सिलसिला जारी है तब तक आत्मा के दुःख का भी सिलसिला जारी रहेगा। जिस दिन जड़-चेतन के संसर्ग का सिलसिला समाप्त हो जायगा, उसी दिन दुःख भी समाप्त हो जायगा और एकान्त सुख प्रकट हो जायगा।

यह जीव, अजीव, पाप और पुण्य तत्त्व हुए। पाँचवाँ तत्त्व आस्रव है। आस्रव वह द्वार है जिसमें से कर्म आत्मा के साथ बँधने के लिए आते हैं। यह द्वार अर्थात् आत्मा के परिणामों का प्रकार है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन-वचन-काय का व्यापार) से आस्रव होता है। जैसे तेल लगे हुए घड़े पर धूल चिपकती जाती है, उसी प्रकार आत्मा पर मोह आदि का जो तेल लगा हुआ है, उसके कारण कर्म-रज चिपकती जाती है। यद्यपि तेल या घड़ा इस को नहीं जानता कि मुझ पर रज चिपक रही है फिर भी रज तो चिपकती ही जाती है। उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि तेल अगर आत्मा रूपी घड़े पर लगा हो तो कर्म रूपी रज चिपक ही जाती है।

आस्रव का निरोध होना संवर है। अर्थात् आस्रव के कारणों को हटा देने से आस्रव भी रुक जाता है और आस्रव का रुकना ही संवर कहलाता है। समिति, गुप्ति, क्षमा आदि धर्म, परीषह जय और तपस्या आदि कारणों से संवर होता है।

जब तक रज, तेल से नहीं चिपकी, तब तक तेल और रज पृथक्-पृथक् पदार्थ कहलाते हैं। जब दोनों मिल जाते हैं तब तेल और रज नाम मिट कर दूसरा ही नाम हो जाता है। इसी प्रकार कर्म रूपी रज जब आत्मा के साथ चिपक जाता और एकमेक हो जाता है तब बंध संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मप्रदेशों के साथ कर्म-रज का चिपक जाना बंध कहलाता है।

बंध के दो भेद हैं—शुभ और अशुभ बंध। शुभ बंध

पुण्य कहलाता है और अशुभ बंध को पाप कहते हैं। शुभ भावों से पुण्य का बंध होता है और मलीन भावों से पाप बँधता है।

आठवाँ तत्त्व निर्जरा है। कर्म जब बँधते हैं तभी उनमें अमुक समय तक आत्मा के साथ चिपके रहने की शक्ति पैदा हो जाती है। वे कर्म उसी समय तक आत्मा के साथ चिपके रह सकते हैं, उसके बाद नहीं। इस प्रकार कर्म की अवधि समाप्त हो जाने पर वे अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। अतएव फल दे चुकने के पश्चात् कर्मों का झड़ जाना—हट जाना निर्जरा है। निर्जरा तत्त्व भी दो प्रकार का है—(१) सकाम निर्जरा और (२) अकाम निर्जरा। कर्म की जो अवधि बँधते समय नियत हुई थी उसके पूर्ण हो जाने पर वह कर्म अपने आप ही फल देकर खिर जाता है। इसे अकाम निर्जरा कहते हैं। तपश्चर्या और ज्ञानप्राप्ति आदि साधनों से कर्म की नियत स्थिति पूर्ण होने से पहले ही उसे नष्ट कर देना—आत्मा से हटा देना—सकाम निर्जरा है। सकाम निर्जरा तपस्वियों और ज्ञानियों को होती है और अकाम निर्जरा संसार के सभी प्राणियों को प्रतिक्षण होती रहती है। अकाम निर्जरा द्वारा प्रतिक्षण अनन्त कर्म-परमाणु हटते रहते हैं, किन्तु नवीन कर्मों का आस्रव और बंध जारी रहने के कारण आत्मा का बोझ कम नहीं हो पाता।

आत्मा जब मिथ्यात्व आदि आस्रव के समस्त कारणों को दूर करके संवर की अवस्था में पहुँच जाता है अर्थात् नवीन कर्मों का आना रोक देता है और पूर्वोपार्जित कर्मों को सकाम निर्जरा द्वारा नष्ट करता है, तब एक समय ऐसा आता है कि आत्मा कर्मों

से सर्वथा मुक्त हो जाता है। समस्त कर्मों से रहित आत्मा की अवस्था ही मोक्ष या मुक्ति कहलाती है।। यही नौवाँ तत्त्व मोक्ष है।

यह नौ तत्त्वों का संक्षिप्त से संक्षिप्त परिचय है। इनमें से तीन तत्त्वों को जानो, तीन को त्यागो और तीन को ग्रहण करो।

पुण्य, पाप और आस्रव त्याज्य हैं। पहले पाप, और आस्रव त्याज्य हैं। तत्पश्चात् आत्मा जब पर्याप्त आध्यात्मिक प्रगति कर चुकता है तब पुण्य भी त्याज्य हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि अशुभ भावों से पाप और शुभ भावों से पुण्य होता है। अतएव साधक पुरुष को अशुभ भावों का विनाश करने के लिए शुभ भावों की आवश्यकता पड़ती है। जब अशुभ भाव समूल नष्ट हो जाते हैं तब विशुद्ध भाव का अवलम्बन करके पुण्यजनक शुभ भाव का भी परित्याग कर दिया जाता है।

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य को नदी के दूसरे किनारे पर स्थित किसी गाँव में जाना है। नदी में पूर आ रहा है। ऐसी स्थिति में उसे पहले नाव पर सवार होना पड़ेगा और दूसरे किनारे पहुँच कर नाव का त्याग करके गाँव में प्रवेश करना होगा। इस प्रकार अभीष्ट ग्राम में पहुँचने के लिए नाव पर सवार होना भी अनिवार्य है और नाव पर से उतरना भी अनिवार्य है, क्योंकि नाव पर चढ़े बिना वह पहले पार नहीं पहुँच सकता और नाव को छोड़े बिना गाँव में प्रवेश नहीं कर सकता। यही बात पुण्य के विषय में है। मोक्ष रूपी ग्राम में प्रवेश करने के लिए पहले पुण्य रूपी नौका पर आरूढ़ होना आवश्यक है और बाद में उसका त्याग करना भी आवश्यक है।

अगर कोई यह सोचे कि अन्त में नाव को छोड़ना तो पड़ेगा ही, तब पहले ही क्यों उस पर आरूढ़ हों ? अथवा कोई नदी की मँझधार में ही पहुँच कर नाव का त्याग कर दे तो उसकी क्या दशा होगी ? वह अभीष्ट ग्राम में नहीं पहुँच सकेगा और बीच धार में ही डूब जायगा। इसी प्रकार पुण्य को अन्त में त्याज्य समझ कर जो पहले ही उसका त्याग कर देता है या विशुद्ध भाव रूपी परला किनारा पाने से पहले ही त्याग देता है, वह संसार-सागर में डूबता है। उसे मोक्ष रूपी ग्राम की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम पाप और आस्रव का त्याग करना चाहिए और जब आत्मा विकास के पथ पर आगे बढ़ जाए, शुद्ध भावना पर अवलंबित हो सके, तब पुण्य का त्याग करना चाहिए; क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए पाप और पुण्य–दोनों का नाश होना अनिवार्य है। जैसे नौका त्यागे बिना नगर-प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार पुण्य त्यागे बिना भी मोक्ष नहीं मिल सकता।

तीन तत्त्व उपादेय हैं–संवर, निर्जरा और मोक्ष। संवर एवं निर्जरा मुक्ति के कारण हैं और मोक्ष आत्मा की विशुद्ध स्वाभाविक अवस्था है। अतएव यह तीनों ग्राह्य तत्त्व हैं।

तीन तत्त्व जानने योग्य हैं—जीव, अजीव और बन्ध। इन पर उपेक्षा का भाव रखना चाहिए।

इन नौ तत्त्वों द्वारा ईश्वर का भजन करो। यही भजन का वास्तविक अर्थ भी है। इन तत्त्वों का बोध होने से ही ईश्वर का बोध होगा।

मित्रो ! इन तत्त्वों पर विस्तार के साथ विवेचन किया जा सकता है। पर वह जान-बूझकर नहीं किया गया। अगर आप इस संक्षेप कथन को स्मरण रख सकें तो भी आपका कल्याण हो सकता है। यदि इतना भी याद न रहे तो कम से कम इतना तो याद रक्खो कि संसार में जितने भी प्राणी हैं वे सब हमारे आत्मा के समान ही हैं। यह जानकर समभाव को व्यवहार में उतारो। अहंकार त्यागो। स्वार्थ छोड़ो। अपने कल्याण के साथ पर का भी कल्याण करो। कम से कम ऐसा कोई काम न करो जिससे उनका अकल्याण हो। परमात्मा से मिलने का यह सुगम मार्ग है।

तू सो प्रभु प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो।
सत् चेतन आनंद विनयचँद, परमारथ पद भेंटो॥

परमात्मा और मैं एक हूँ, दो नहीं हैं। और जैसे मैं और परमात्मा एक हैं, उसी प्रकार दूसरे जीव और परमात्मा भी एक हैं। यह ज्ञान होने पर फिर अपने ही सुख के लिए माला न फेरी जायगी, वरन् अपने भाइयों की भलाई के लिए माला फिराई जायगी। उस समय माला फिराने वाला कहेगा—'हे प्रभो ! मैंने तुझे पहचाना है। अतएव तुझ से भेंट करने के लिए मैं अपने भाइयों के अकल्याण की इच्छा का आज से ही परित्याग करता हूँ।'

मित्रो ! माला तो फिराई मगर उसके बदले सांसारिक पदार्थ प्राप्त करने की कामना की तो समझना चाहिए कि यह परमात्मा का भजन नहीं है, अपितु एक प्रकार का रोजगार है। सच्चा माला फिराने वाला भक्त वह है जो अपने भाइयों के कल्याण की

कामना करता है और अपने सुख की अभिलाषा का त्याग कर देता है। तभी माला जपना सफल और सार्थक होता है।

औरों के सुख को सुख समझूं, सुख के करूँ उपाय।
अपने दुख सब सहूँ किन्तु, परदुख देखा नहीं जाय॥
दयामय ! ऐसी मति हो जाय॥

हे प्रभो ! तेरे भजन के प्रताप से इतना हो जाय कि मैं दूसरों के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुःख को अपना ही दुःख समझने लगूं।

जिसके अन्तःकरण में इतनी उदारता आ जाएगी, जो अपने व्यक्तिगत दुःख-सुख को अपने भाइयों के दुःख-सुख में परिणत कर देगा, जो समस्त प्राणियों में अपने व्यक्तित्व को बिखेर देगा, वह क्या कभी छल-कपट करेगा ? क्या वह असत्य का आचरण करेगा ? क्या वह दूसरों का हक छीन कर अपना भंडार भरेगा ?

'कदापि नहीं !'

आज विश्व में जो खींचतान चल रही है, वर्ग-युद्ध की जो भीषण बीमारी फैलती जाती है, उसका कारण इस प्रकार की समझ न होना ही है। जिसे इस सचाई का बोध हो जायगा और जो इस सचाई की भूमिका पर अपने जीवन का निर्माण करेगा, वह शान्ति लाभ करेगा और उसका अक्षय कल्याण होगा।

महावीर-भवन, देहली
ता० १७-८-३१.
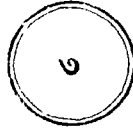
मोहनगारो !

प्रार्थना

समुद्रविजयसुत श्रीनेमीश्वार, जादव कुल को टीको ।
रतन कूख-धारणी शिवादे, तेहनो नन्दन नीको ॥
श्री जिन मोहनगारो छे ।
जीवन-प्राण हमारो छे ॥

श्री नेमिनाथ भगवान् की यह प्रार्थना है । प्रार्थना करने वाले को, वह जिसकी प्रार्थना कर रहा है उससे विशेष प्रेम होना चाहिए । प्रार्थना करने वाले के रोम-रोम में प्रार्थ्य के प्रति अप्रतिम प्रेम

हो तभी प्रार्थना सार्थक होती है । प्रेम के बिना प्रार्थना करना न करना समान है ।

तात्पर्य यह है कि प्रार्थना के शब्द जीभ से भले ही उच्चरित हों मगर प्रार्थना का उद्भव अन्तःकरण से होना चाहिए । जब प्रार्थना अन्तर से उद्भूत होती है तो अन्तःकरण प्रार्थना के अमृत-रस में सराबोर हो जाता है । वह रस कैसा होता है, यह कहने की बात नहीं है । उसका अनुभव ही किया जा सकता है । अन्तरतर से प्रार्थना करके उस रस का आस्वादन करोगे तो उसके आगे अन्य सब रस नीरस लगने लगेंगे । मगर वह रस प्रेम के बिना नहीं बनता । प्रेम के अभाव में प्रार्थना केवल शब्द-रटन है । ग्रामोफोन से भी प्रार्थना के शब्द ध्वनित होते हैं लेकिन उसे प्रार्थना का कुछ भी फल नहीं मिलता । महात्माओं ने कहा भी है—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।

अर्थात्—बिना भाव के की हुई क्रिया फलदायक नहीं होती है ।

जब बिना प्रेम के कोई भी क्रिया फलदायिनी नहीं होती तब प्रार्थना का सच्चा फल तभी मिल सकता है जब प्रार्थना प्रेमपूर्वक की जावे । यों तो प्रार्थना सभी समयों में और सभी प्रकार से हितावह ही है, मगर भावना के वैचित्र्य से प्रार्थना के भी कई भेद हो जाते हैं । यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है ।

जब किसी के घर विवाह या अन्य कोई मांगलिक कार्य होता है तब उसके यहाँ घर-घर की स्त्रियाँ गीत गाने के लिए

आती हैं। यद्यपि सभी स्त्रियाँ मिलकर गाती हैं और प्रायः एक ही गीत गाती हैं, किन्तु उनकी भावना पृथक्-पृथक् होती है। कई स्त्रियाँ जातीय व्यवहार निभाने के लिए आती हैं, कई सोचती हैं—'बैठी-बैठी क्या करूँगी, चलो बताशे ही ले आऊँगी'—यह सोच कर आती हैं, कोई-कोई दिल बहलाने आती हैं और कई रिश्तेदारी के अनुरोध से आती हैं। इस प्रकार एक ही प्रसंग और एक ही गीत होने पर भी गाने वाली स्त्रियों की भावना में बड़ा अन्तर होता है। लेकिन घर की मालकिन, जिसके यहाँ कार्य होता है, न तो किसी कामना से गाती है और न दिखावे के लिए गाती है। उसका हृदय आनन्द से उछलने लगता है और उसी आनन्द के उद्रेक में उसका हृदय गाने लगता है। यही नहीं, गृहस्वामिनी आगत स्त्रियों का आभार मानती है और अपनी शक्ति के अनुसार किसी प्रकार की भेंट देकर उनका सत्कार भी करती है। वह गाने के बदले स्वयं कुछ भी नहीं लेती। अगर वह स्वयं ले तो फिर गृहस्वामिनी कैसी ? वह बालक की माता कैसे कहलाएगी ? उसका रोम-रोम तो उस मंगलमय कार्य की सिद्धि और सफलता मनाता रहता है।

प्रार्थना के विषय में भी यही बात है। कोई किसी भाव से प्रार्थना करता है, कोई किसी भाव से। कोई अपना दुःख दूर करने की इच्छा से प्रार्थना करता है, कोई विश्वास न होने पर भी देखा-देखी प्रार्थना करता है, कोई दिखावे के लिए प्रार्थना करता है, कोई किसी और कामना से प्रेरित होकर प्रार्थना बोलता है; लेकिन जिसे परमात्मा से आन्तरिक प्रेम है, वह बिना किसी कामना के ही प्रार्थना करता है। ऐसी प्रार्थना करने वाले को

प्रार्थना करने में इतना आनन्द आता है कि विवाह के अवसर पर लड़के की माता को गीत गाने में जो आनन्द आता है, उससे भी वह कई गुना बढ़ जाता है। परमात्म-प्रेम से प्रेरित होकर प्रार्थना करने वाला प्रार्थना में ही अपने जीवन की सार्थकता मानता है। जैसे बैंक में रुपया जमा कराकर लोग निश्चिन्त हो जाते हैं उसी प्रकार सच्चे और प्रेम-भरे हृदय से प्रार्थना करने वाला अपना तन-मन-धन परमात्मा को समर्पण करके निश्चिन्तता की सांस लेता है। उसके मन का बोझ जैसे हलका हो जाता है।

आज की प्रार्थना में एक विचित्र बात कही गई है। इस प्रार्थना में कहा है—

श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।

साधारण भाव से पढ़ने-सुनने पर यह शंका उठ सकती है कि क्या यह प्रार्थना जैन धर्मानुयायी की है ? जैन की प्रार्थना में परमात्मा को 'मोहनगारो' कैसे कहा जा सकता है ? अगर परमात्मा सचमुच ही 'मोहनगारो' है तो फिर वीतराग कैसा ? अगर वह वीतराग है तो 'मोहनगारो' कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार जो अदृश्य है, दीखता नहीं है, जिसमें रूप-रंग नहीं है, वह जीवनाधार कैसे है ?

परमात्मा वास्तव में मोहनगारो है और जीवनाधार भी है। परमात्मा में अद्भुत मोहिनी शक्ति है। अगर उसमें मोहित करने की शक्ति न होती तो भक्त लोग परमात्मा की धुन में मस्त होकर क्यों आनन्द मानते ? बड़े-बड़े सम्राट् और चक्रवर्ती संसार की सर्वोत्कृष्ट सुख-सामग्री का परित्याग करके किसके

जादू में पड़कर जंगल की खाक छानते हैं ? साधारण लोग जिन भोग-विलासों के प्रलोभन में पड़ कर अपना जीवन सफल समझते हैं, उन्हीं भोगों को रोग और विषयों को विष समझने वाले योगीजन किस दृश्य मोहनी शक्ति से प्रेरित होकर योग-साधना में निरत रहते हैं ? संसार में पत्नी और पुत्र-पौत्र आदि का मोह बड़ा जबर्दस्त होता है, मगर उस मोह को भी त्याग करने के लिए प्रेरित करने वाला आकर्षण किसका है ? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है। परमात्मा में अजीब जादू है, विचित्र सम्मोहिनी शक्ति है और अनुपम आकर्षण है। उसकी मोहिनी शक्ति के आगे कोई दूसरी मोहिनी काम नहीं आती। परमात्मा पर जिनका मन मोहित हो जाता है उन्हें संसार के सभी मोहक पदार्थ नाचीज जँचते हैं। इसीलिए भक्त लोग उसके लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परमात्मा मोहनगारो है और जीवनाधार भी है। यह बात अगर भगवान् नेमिनाथ और गजसुकुमारमुनि के चरित से तौली जाय तो ठीक तरह समझ में आ सकेगी।

लौकिक बोल-चाल में साधारण तौर पर जो 'मोहनगारो' कहा जाता है उसमें और इस 'मोहनगारो' में बहुत अन्तर है। मोह में फँसना और तल्लीन हो जाना अलग बात है और भक्ति-रस में डूब जाना और मस्त हो जाना, यह दूसरी बात है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ॥

जिसे सारा संसार घोर अँधेरी रात समझता है, उसे ज्ञानी जन प्रकाशमान दिन कहते हैं। जिसे संसार प्रकाशमान दिन समझता है, उसे ज्ञानी पुरुष अन्धकारमयी रजनी मानते हैं।

इसी प्रकार प्रार्थना में जो मोहनगारो कहा है वह और है तथा संसार में जिसे मोहनगारो कहते हैं वह और है। दोनों मोहनगारो में बड़ा अन्तर है। किसी के लिए पैसा मोहनगारो है, किसी स्त्री के लिए कोई पुरुष मोहनगारो है, माता-पिता को पुत्र मोहनगारो है। इन सभी के लिए एक वही मोहनगारो शब्द प्रयुक्त होता है; लेकिन इनमें जो भावना का भेद है वह आकाश-पाताल जितना है। ज्ञानियों एवं अज्ञानियों का रात-दिन वाला अन्तर यहाँ भी विद्यमान है।

संसार के किसी पदार्थ को मोहनगारो मानने से आत्मा परावलंबी बनता है, पाप में प्रवृत्ति करता है और कर्मबंध की सामग्री संचित करता है। इससे विपरीत परमात्मा को मोहनगारो समझने वाला भक्त परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग का पथिक बनता है और वह मार्ग संसार के मार्ग से एकदम विपरीत दिशा में होने के कारण भक्त को संसार से नाता त्यागना पड़ता है। ऐसा करने से आत्मा पाप से बचता है, कर्म-बंध से छूटता है और निर्मल बन जाता है। इस प्रकार दोनों मोहनगारो में कितना अन्तर है ?

यह विषय बड़ा गहन है; परन्तु गणधरों के शब्दों की शरण जाने से गूढ़ बातें भी सरल हो जाती हैं। परमात्मा की मोहिनी कैसी होती है, यह बात उदाहरण द्वारा बतलाई जाती है।

भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी के बाहर पधारे हैं। उनके आगमन का संवाद सुन कर श्रीकृष्ण महाराज की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। वे भगवान् के दर्शन करने के लिए रवाना हुए।

भगवान् नेमिनाथ में आकर्षण न होता तो महाराज श्रीकृष्ण क्यों उनकी ओर खिंचे चले जाते ? भगवान् के आकर्षण ने ही उन्हें अपनी ओर खींच लिया।

श्रीकृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमार थे। गजसुकुमार का जन्म बड़ी भावना से हुआ था। देवकी ने अपने आठ पुत्रों में से केवल इन्हीं का जन्मोत्सव देखा और मनाया था। सन्तान-प्रसव का वास्तविक मातृ-सुख इन्हीं से प्राप्त हुआ था। अतएव देवकी को गजसुकुमार अत्यन्त प्रिय थे। न केवल देवकी को ही, वरन् समस्त यदुवंशियों को गजसुकुमार बड़े ही लाड़ले थे। इनका जन्म होने से ही यादवों ने कृतार्थता-सी अनुभव की थी। देवकी को सिर्फ गजसुकुमार के ही पालन-पोषण का अवसर मिला था; अतएव वह उन पर प्राण देती थी।

दोनों भाई एक हाथी पर आरूढ़ होकर भगवान् के दर्शनार्थ चले। उस समय दोनों द्वारिकावासियों के लिए मोहनगारे थे, मगर उन दोनों के लिए भगवान् नेमिनाथ मोहनगारे थे। मार्ग में उन्हें एक सुन्दरी, सर्वगुणसम्पन्न और रूप-शृंगार की खानि, एक कन्या दिखाई दी। उसे देवकन्या, नागकन्या या अप्सरा की उपमा भले ही दी जाय, मगर वह इन सब उपमाओं को जीतने वाली थी। वह अपनी सहेलियों के साथ अपने महल पर गेंद खेल रही थी।

गेंद खेलने का रहस्य क्या है और उसकी आध्यात्मिक संगति किस प्रकार है, इसका वर्णन ग्रन्थों में करीब दो-अढ़ाई हजार श्लोकों में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि

उस कन्या के गेंद खेलने में अत्यन्त गूढ़ रहस्य छिपा हुआ था।

कन्या का नाम सोमा था। वह सोमल नामक ब्राह्मण की पुत्री थी। जैसा उसका नाम वैसे ही उसमें गुण थे। उसका सौम्य वदन उसके नाम की यथार्थता प्रमाणित करता था।

श्रीकृष्णजी ने उस कन्या को देखा और उसे गजसुकुमार के योग्य पाया। उन्होंने कन्या के पिता के पास गजसुकुमार के लिए कन्या की मँगनी करने अपना आदमी भेजा।

जब कृष्णजी की उस कन्या पर दृष्टि पड़ी तो गजसुकुमार ने भी उसे देखा ही होगा। कृष्णजी का अपने भृत्य से जो वार्त्तालाप हुआ उसे भी गजसुकुमार ने सुना होगा। आजकल छोटे-छोटे बालकों को सगाई-संबंध में बाँध कर, चाहे वे उस संबंध में कुछ भी न जानते हों तब भी, उनके माता-पिता उन्हें लज्जित कर करके दाम्पत्य संबंधी कुछ भावना उनमें उत्पन्न कर देते हैं। फिर गजसुकुमार युवक हैं और सोमा युवती है। सोमा को भले ही इस नूतन संबंध की चर्चा का पता न चला हो, परन्तु गजसुकुमार सोमा का रूपलावण्य भी देख चुके हैं और उसके साथ अपने विवाह की चर्चा भी सुन चुके हैं। इस विषय में युवक के हृदय में जो भावना होती है, उससे यह सहज ही जाना जा सकता है कि गजसुकुमार ने सोमा को किस दृष्टि से देखा होगा। उस समय गजसुकुमार को वह सुन्दरी युवती कितनी मोहनगारी प्रतीत हुई होगी, यह अनुमान करना कठिन नहीं है; क्योंकि उस समय तक गजसुकुमार का चित्त संसार के अन्य युवकों की ही तरह था। उसमें वैराग्य की कोई बात नहीं

थी। उस समय गजसुकुमार यदि विरक्त होते तो महाराज श्रीकृष्ण उनके विवाह के लिए कन्या की मँगनी न करते या गजसुकुमार स्वयं किसी बहाने से उन्हें रोक देते। मगर वास्तव में उस समय उनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न नहीं हुई थी। वे नवयुवक भी थे। इस स्थिति में उन्हें वह कन्या मोहनगारी मालूम हुई होगी।

कृष्णजी के आदमी ने सोमल के पास जाकर कन्या की याचना की। सोमल ने सहर्ष याचना स्वीकार की। कन्या कृष्णजी के कुँवारे अन्तःपुर में पहुँचा दी गई।

श्रीकृष्णजी और गजसुकुमार आगे बढ़े। जब भगवान् के समीप पहुँचने को हुए तो दोनों हाथी से नीचे उतर गये।

भक्ति में सम्मान का पहला स्थान है। जो जिसका भक्त है वह उसका सम्मान अवश्य करेगा। सम्मान करने के लिए विनम्रता की आवश्यकता है। और विनम्रता अहंकार का त्याग करने से आती है। उद्धत वेषभूषा और अलंकारों का त्याग करना भी अहंकार के त्याग का ही अंग है। इन सब का त्याग करके भगवान् के पास जाना भक्त का कर्त्तव्य है। कृष्णजी ने इन सब वस्तुओं का तथा छत्र-चामर आदि का त्याग किया और फिर भगवान् के चरणारविन्द की सेवा में उपस्थित हुए। गज-सुकुमार आगे-आगे और श्रीकृष्णजी पीछे-पीछे चले।

श्रीकृष्णजी ने और गजसुकुमार ने एक तो सोमा कन्या को देखा था और एक भगवान् नेमिनाथ को देख रहे हैं। यद्यपि भगवान् स्वयं वीतराग हैं और उनकी मुख-मुद्रा से वीतराग भाव

टपकता है, तथापि न जाने उनमें कैसी अलौकिक मोहिनी है कि उन्होंने मोहन (कृष्णजी) को भी मोह लिया। गजसुकुमार भी उनकी रागहीन मुद्रा देख कर आत्म-विस्मृत हो रहे।

भगवान् नेमिनाथ वीतराग हैं, किन्तु अनुपम रूपश्री से सम्पन्न भी हैं। उनके रूप के आगे संसार के समस्त सुरूप भी विरूप से प्रतीत होने लगते हैं। उनके श्वास के सौरभ में जगत् की अन्य सुगंध विलुप्त हो जाती है। उनकी अलौकिक आभा के आगे विश्व के तेज फीके पड़ जाते हैं। उनके मुख की सौम्यता चन्द्रमा का उपहास-सा करती है। और सब जाने दीजिए, भगवान् के चरणों में भक्ति से नम्र इन्द्र जब मस्तक झुकाता है, तब भगवान् के नखों की उग्रतर दीप्ति से इन्द्र के मुकुट की देदीप्यमान महर्घ्य मणियों की भी चमक बढ़ जाती है।

इस असीम तेज और सौन्दर्य का कारण भगवान् का आध्यात्मिक प्रभाव है। जिसकी आत्मा में तेज नहीं है, उसके शरीर में वैसी दीप्ति होना असंभव है। आत्मा का तेज ही भगवान् के शरीर में से फूट पड़ता है।

आप लोगों ने केवल पुद्‌गलों में सौन्दर्य की कल्पना कर रक्खी है। आपकी धारणा यह बन गई है कि सुन्दरता केवल तेल, साबुन, उज्ज्वल वस्त्रों एवं अलंकारों में है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। तेल, साबुन और गहने-कपड़े कुरूपता के आवरण हैं। भीतरी कुरूपता को छिपाने के लिए इन सब चीजों का उपयोग किया जाता है और अपने आपको सुन्दर प्रकट करने की चेष्टा की जाती है। जो स्वयं लाल है उस पर लाख

रंग चढ़ाने की क्या आवश्यकता है ? जो स्वयं सुन्दर है उस पर अलंकारों का बोझ लादने की क्या जरूरत है ? शास्त्र-विरुद्ध आहार-विहार करके और जिह्वा-लोलुपता के वशीभूत होकर लोग पहले तो अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश करते हैं, वीर्य-रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाने का खयाल नहीं करते और जब शरीर दुर्बल तथा चेहरा निष्प्रभ बन जाता है तो उसके आच्छादन के लिए तेल-साबुन आदि का प्रयोग करते हैं। परन्तु इस प्रकार के आचरण से वास्तविक सौन्दर्य की वृद्धि नहीं हो सकती।

जिसके चेहरे पर ब्रह्मचर्य का तेज अठखेलियाँ करता है उसे पाउडर लगाने की आवश्यकता नहीं होती। जिसके शरीर के अंग-प्रत्यंग से आत्म-तेज फूट पड़ता हो उसे अलंकारों की अपेक्षा नहीं रहती। सच पूछो तो सुन्दरता-वर्धन के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले ऊपरी पदार्थ आन्तरिक तेज की दरिद्रता को सूचित करते हैं और सौन्दर्य-विषयक सम्यग्ज्ञान के अभाव के परिचायक हैं।

श्रीकृष्ण महाराज और गजसुकुमार, भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करके मुग्ध हो गये। उन्हें मुग्ध करने वाली वस्तु क्या थी ? भगवान् का अनोखा आत्मिक तेज और उनकी मुख-मुद्रा पर प्रतिबिम्बित होने वाली आन्तरिक सौम्यता ही ने उन्हें मोहित कर लिया था।

प्रश्न होता है कि क्या परमेश्वर हमारे हृदय को मोहित करने वाला है ? क्या उसमें हमारे हृदय को आकर्षित करने की शक्ति है ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा में ऐसा शक्ति

अवश्य है, यदि तुम्हारे हृदय में उसकी अभिलाषा हो। यदि परमात्मा के प्रति तुम्हारे हृदय में सद्भावना है तो तुम्हारा हृदय उसकी ओर आकृष्ट होगा ही।

सूर्य सर्वत्र दिखाई देता है। उसके दीखने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। लेकिन सूर्य की किरणें कांच के टुकड़े पर पड़ कर जैसी चमक देती हैं वैसी चमक किसी ठीकरी पर पड़ कर नहीं देतीं। फिर भी कांच की भाँति ठीकरी पर चमक न देने पर भी सूर्य में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। वह तो सर्वत्र एक रूप से ही अपना प्रकाश फैलाता है।

लोगों में साम्प्रदायिक भेदभाव इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि उसने कदाग्रह का रूप धारण कर लिया है। इससे भक्ति का ह्रास हो रहा है। बहुत-से लोग सम्प्रदाय या पंथ के नाम पर लड़ कर खून-खराबी करने में आनन्द मानते हैं। संसार का कोई भी पंथ इस प्रकार के आचरण का विधान नहीं करता। यही नहीं वरन् एक या दूसरे रूप में सभी पंथ इसका विरोध करते हैं। अगर लोग अपने-अपने सम्प्रदाय की सुशिक्षाओं पर ही ध्यान दें तब भी उन्हें विदित हो जायगा कि वे अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए जो व्यवहार दुराभिनिवेश के वश होकर करते हैं, उससे सम्प्रदाय की रक्षा नहीं होती, किन्तु उसका अपमान होता है, उसकी जड़ खोखली बनती है। इस प्रकार वे अपने ही सम्प्रदाय के शत्रु बनते हैं। ऐसे लोग अपने पंथ की प्रतिष्ठा कलंकित करते हैं।

सत्य सर्वत्र एक है। वह देश और काल की सीमाओं से परे है। संसार के सभी सम्प्रदाय उसी सत्य को ग्रहण करने का

प्रयास करते हैं। यही कारण है कि सब सम्प्रदायों में मूल बात (अहिंसा) को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है, तथा अन्य मौलिक बातों में भी समानता है। कौन सम्प्रदाय ऐसा है जो पारस्परिक भ्रातृ-भाव का निषेध करता है ? किस पंथ में विधर्मी के प्रति सौजन्य-पूर्ण व्यवहार करने का विरोध किया गया है ? फिर भी लोगों की प्रकृति में ऐसी बुराइयाँ आ घुसी हैं, उनके हृदय इतने संकीर्ण एवं शंकाशील हो गये हैं कि अच्छी वस्तु भी बुरी नजर आती है। अतएव जब तक प्रकृति में परिवर्त्तन नहीं होता, अन्तःकरण में निर्मलता नहीं आती, तब तक धर्म और ईश्वर के सच्चे और गूढ़तम रहस्यों का पता नहीं चल सकता।

मित्रो ! जो निगूढ़तर तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से परे है, और जिस तक तुम्हारी पहुँच नहीं हो पाती, उसे अगर न भी जान सको; तब भी इतना तो समझ लो कि जो वस्त्र मलिन है और मलिन दिखाई दे रहा है, उसे स्वच्छ कर लेने में क्या हर्ज है ? ऐसा समझ कर अगर आप अपने अन्तःकरण को निर्मल बना लें तो आपका अन्तःकरण एक प्रकार के अद्भुत प्रकाश से देदीप्यमान होने लगेगा और तब ईश्वर का प्रकाश भी प्राप्त हो जायगा।

सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि हम किस जगह भूल करते हैं, किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हम से छूट जाता है और हम विपथगामी बनते हैं ? मेरे विचार में सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है लेकिन उसे बुरा न समझ कर अच्छा समझता है।

भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयंकर नहीं रहती। मगर जब भूल, भूल ही नहीं मालूम होती, तब भूलों की परम्परा चल पड़ती है और भूल करने वाला उसका परिमार्जन करने की ओर भी ध्यान नहीं देता। इसी कारण संसार चक्कर में पड़ कर अपने अन्तर् को मलीन बनाये हुए है। लोग अन्तःकरण की मलीनता अपनी आँखों से देखना चाहते हैं परन्तु आँखों से वह दीखती नहीं है। अतएव प्रत्येक वस्तु को पकड़-पकड़ कर देखो और प्रत्येक भावना की जाँच करो कि इससे अन्तःकरण मलीन बनेगा या निर्मल होगा ? उदाहरण के लिए खादी को ही लीजिए। विलायती वस्त्र और शुद्ध खादी में से आप किसे पवित्र समझ रहे हैं ? मन की बात बताओ !

'विलायती को !'

क्योंकि वह मुलायम, साफ़ और चमड़ी को सुख देने वाला है। वह अकड़ कर चलने में भी बहुत सहायता देता है ! इसके अतिरिक्त अपना बड़प्पन प्रकट करने की अभिलाषा सभी को रहती है। बड़ा बनाने का साधन या तो विलायती वस्त्र है या आभूषण। लोग बड़प्पन के काम तो करना नहीं चाहते, मगर बड़प्पन चाहते हैं। बड़प्पन चाहने के लिए जितना प्रयत्न करते हैं उतना प्रयत्न बड़े बनने के लिए नहीं करते। वास्तव में बड़प्पन हो या न हो, मगर दूसरों को हमारा बड़प्पन दिखना चाहिए। इस इच्छा से प्रेरित होकर लोग बड़प्पन दिखाने के लिए तुच्छता के काम करते हैं। आभूषणों से लदना और विलायती वस्त्र पहनना इसी दुर्भावना के फल हैं। इसी प्रकार की दुर्भावना

अपवित्र वस्तुओं की ओर आकर्षित करती है। बड़प्पन न होने पर भी बड़प्पन दिखाने की कुत्सित चाल ने संसार में बेहद ढोंग फैलाया है। बताइए, किसी भी मजहब, किसी भी पंथ का यह सिद्धान्त है कि बड़प्पन पैदा करने के लिए तो काम न करना, फिर भी दूसरों को बड़प्पन जताने के लिए ढोंग रचना ? इसके लिए अपवित्र पदार्थों का उपयोग करना ? वास्तव में कोई भी सम्प्रदाय इस ढोंग का समर्थन नहीं करता।

कल अताउल्ला शाह बुखारी साहब ने यहाँ आप लोगों से कहा था कि कई लोग कांग्रेस में सम्मिलित होकर ऊँचे पद पाने की इच्छा करते हैं, परन्तु सेवा करने की इच्छा नहीं करते। यह एक मूलभूत खराबी है। उचित तो यह है कि लोग कांग्रेस में केवल सेवा-भाव से प्रेरित होकर जाएँ और जो सेवा उन्हें सिपुर्द की जाय उसे प्रसन्नतापूर्वक बजाएँ। प्रत्येक कांग्रेसी की यही भावना होनी चाहिए कि मैं अपने हिस्से की सेवा करके अपने भाइयों के ऋण से मुक्त हो सकूं और परमात्मा के सामने खड़ा होने योग्य बन सकूं।

इस प्रकार की और भी अनेक भूलें होती हैं। सुना है—'देहली के चाँदनी चौक बाजार के व्यापारियों ने कांग्रेस के अधिकारियों को लिखा है कि हमारे विदेशी कपड़े पर ही धरना दिया जाता है, सो स्वराज्य मिलने पर क्या हम ही गवर्नर बनाये जाएँगे ?' अगर यह सच हो तो कहना चाहिए कि लोग सभी जगह बनियापन से काम लेते हैं। इस प्रकार बनियाई से काम लेने वाले लोग परमात्मा का पता कैसे पा सकते हैं ?

ऊपर-ऊपर से मेन्चेस्टर का वस्त्र भला मालूम होता है, मगर वह तभी तक भला है जब तक तुम्हारे दिल में अपने देशवासियों के प्रति प्रेम नहीं है। जिस दिन अपने गरीब देश-भाइयों के प्रति अन्तःकरण में करुणा उदित होगी, कर्त्तव्य-बुद्धि जागृत होगी, उस दिन तुम्हें उस कपड़े से घृणा होने लगेगी। उस दिन कहोगे — मैं फटे-पुराने कपड़े से तन ढँक लूंगा, पर अपवित्र विलायती वस्त्रों को हाथ न लगाऊँगा। विलायती वस्त्रों का पहनना कैसा है, यह बात एक उदाहरण देकर समझाना चाहता हूँ।

एक ओर पांडव-कुल की लक्ष्मी और कौरवों के कुल की प्रतिष्ठा—द्रौपदी खड़ी है और दूसरी ओर कुलांगार दुश्शासन खड़ा है। दुश्शासन द्रौपदी का एक मात्र वस्त्र खींचना चाहता है और उसे नग्न कर देना चाहता है। अगर यह घटना आपके सामने हो तो आप दुश्शासन को धिक्कारेंगे या नहीं ?

'अवश्य धिक्कारेंगे !'

देवर अपनी भौजाई को भरी सभा में नग्न करना चाहता है; लेकिन दैवयोग से या धर्म के प्रताप से दुश्शासन उसमें सफल नहीं होता। वह वस्त्र खींचता जाता है, फिर भी द्रौपदी नग्न न हो की। उसके शरीर से एक से एक सुन्दर वस्त्र उतरते रहे।

द्रौपदी के शरीर से दुश्शासन ने जो कपड़े खींचे हैं, जो दिव्य अम्बर हैं और अत्यन्त सुन्दर हैं, वे वस्त्र आपको दिये जावें और उनसे आपके योग्य वस्त्र बन सकते हों, तो आप उन्हें लेंगे या नहीं ?

'नहीं !'

चाहे जैन-कथा में देखो, चाहे महाभारत में, जिसे धर्म पर विश्वास है उसके लिए ऐसा होना संभव नहीं है।

आपकी आँखों के आगे आपकी भौजाई की ऐसी दुर्गति की जाती हो, आप देख रहे हों, तो आपका खून जोश खाएगा या नहीं ?

'अवश्य-अवश्य !'

लेकिन अगर आप यह सोचने लगें कि भौजाई नंगी होती है तो हो ! इससे हमें क्या ? हमें तो अनायास ही सुन्दर कपड़ा मिल रहा है। किसी प्रकार का आरंभ नहीं करना पड़ता ! और ऐसा सोच कर कपड़ा ले लें तो क्या कोई दोष लगेगा ?

'हाँ !'

ऐसा पाप-वस्त्र पहनना आपको शोभा देगा ?

'नहीं !'

इस समय द्रौपदी और दुश्शासन सामने नहीं हैं, इसी से आप 'हाँ' और 'नाहीं' कर रहे हैं। द्रौपदी के इस उदाहरण के विषय में कई लोग संदेह भी कर सकते हैं और कई लोग इसे ऐतिहासिक घटना नहीं मानते। लेकिन इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण मैं आपके सामने उपस्थित करता हूँ, जिसे मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

इस भारतभूमि को आप द्रौपदी समझें। यह भारतभूमि क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या सिक्ख और क्या ईसाई, जो भी यहाँ उत्पन्न हुआ है, सभी की अपनी है। सभी इसमें रहते हैं

और इसी के अन्न-जल से अपना पोषण पाते हैं। इस आर्य-भूमि में हिन्दू यदि लाखों-करोड़ों वर्षों से रहते होंगे या इससे भी पहले से निवास करते होंगे तो मुसलमानों को भी सैंकड़ों वर्ष हो गये हैं। मुसलमानों ने भारत को अपना ही देश माना था। वे यहाँ के शासक थे, मगर यहाँ की धन-दौलत अरब या ईरान नहीं ले गये थे।

अलबत्ता, बाद में ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये हैं, जिनसे हिन्दू और मुसलमानों में फूट पैदा हो जाय। कुछ स्वार्थप्रिय लोगों ने ऐसे इतिहास का निर्माण किया है जिसे पढ़कर भारत-माता के दोनों बच्चे आपस में लड़ें, मरें और एक दूसरे से घृणा करें। उन्होंने इसी में अपनी भलाई सोची है। इसके बिना उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वे भली-भाँति समझते हैं कि जिस दिन हिन्दू और मुसलमान आपस में मिलकर एक हो जाएँगे, दोनों भाई-भाई की भाँति शांति और प्रेम से रहने लगेंगे उस दिन उनकी गुजर न होगी! इस स्वार्थ-भावना के कारण मिथ्या इतिहास रच-रचा कर बचपन से ही भारत के निवासियों में कटुता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। यदि ऐसे इतिहास का बहिष्कार किया जाय तो शीघ्र ही भारतीय एक दूसरे पर विश्वास करने लगेंगे और साम्प्रदायिक दुर्भावना निकल जायगी। उस अवस्था में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होगी, पुष्ट होगी और तब लोगों की आँखें खुलेंगी। उन्हें साफ दिखाई देगा कि हमें कितना धोखा दिया गया है, कैसे अँधेरे में रक्खा गया है और अब हमारा क्या कर्त्तव्य है?

तात्पर्य यह है कि भारत-भूमि सभी भारतवासियों की

अपनी है। सभी इसे अपनी मानते हैं या सभी को मानना चाहिए। सभी सम्प्रदाय वालों के स्वार्थ एक साथ सम्बद्ध हैं। सभी की बुराई-भलाई एक ही डोरे से बँधी है। सभी एक नाव पर सवार हैं। नाव डूबी तो सभी साथ डूबेंगे, तिरेंगे तो सभी साथ तिरेंगे। तात्पर्य यह है कि सभी देशवासियों का राष्ट्रीय हित सम्मिलित है।

हाँ, तो यह भारतभूमि द्रौपदी है। इसका वैभव, इसकी उत्तमता आदि सभी बातें अवर्णनीय हैं। जिन्होंने देश-देश के प्राकृतिक सौन्दर्य आदि का अवलोकन किया है, उनका कथन है कि भारत के समान दूसरा देश नहीं है। दूसरे देशों में गंगा और यमुना सरीखी लाभदायक नदियाँ और हिमालय जैसे विशाल और गगनचुम्बी पर्वत नहीं हैं। बड़े–बड़े महात्मा, ऋषि–मुनि, बड़े–बड़े दार्शनिक और बड़े–बड़े विद्वान् जैसे और जितने भारत में हुए हैं, वैसे अन्यत्र नहीं हुए। यह देश शस्त्र–बल से परास्त नहीं हो सकता था, इसलिए इस देश के वस्त्रों का अपहरण किया गया, जिससे वह पराजित हो जाय !

वस्त्र छीनने के लिए भारतीयों पर कैसे–कैसे अत्याचार किये गये हैं, यह इतिहास से प्रकट है। वस्त्रों का अपहरण करने के लिए भारतीय कारीगरों के अँगूठे कटवाए गये और उन्हें तरह–तरह से धोखा दिया गया। इस प्रकार के अनुचित और घृणित उपायों से यहाँ के वस्त्र छीने गये और जबर्दस्ती दूसरे देशों का कपड़ा यहाँ वालों के गले मढ़ा गया है।

इस प्रकार विदेशी 'दुःशासन' ने भारतभूमि रूपी द्रौपदी

को नंगी करने के लिये अनेक उपाय किये। लेकिन यहाँ तपस्या का न जाने कितना और कैसा तेज है, जिसके प्रभाव से वह नग्न नहा हो सकी।

कपड़ा बनाने की सामग्री कहीं बाहर विदेश से मँगाने की जरूरत नहीं है। चर्खा, कपास, धुनकने का साधन, कपड़ा बुनने की शिक्षा, सभी कुछ यहाँ विद्यमान है। क्या किसी चीज के लिए भारतीयों को दूसरों का मुँह ताकने की जरूरत है ?

'नहीं !'

पहले वाली समस्त शक्ति और योग्यता भारत में विद्यमान है। वह दबा दी गई है, पर कहीं चली नहीं गई है।

विदेशी रूपी दुःशासन (अथवा कुशासन) भारती रूपी पांडवों की लक्ष्मी–द्रौपदी को नंगी तो करना चाहते थे, परन्तु वह अपनी तपस्या के प्रताप से नंगी नहीं हुई। इतने में ही भारतीय रूपी पाण्डव सचेत हो गये। वे समझ गये कि विदेशी दुःशासन हमारी मातृभूमि को एक प्रकार से नहीं, अनेक उपायों से नंगी करना चाहते हैं। उन्होंने उसके वस्त्र का ही अपहरण नहीं किया है, अपितु वस्त्र के साथ ही हमें बेभान करने के लिए कॉलर, नेकटाई, चाय, बिस्कुट, शराब आदि अनेक खराब-खराब चीजें भी हमारे सामने प्रस्तुत की हैं। इनकी बदौलत भी भारत नंगा और दुःखी हो रहा है।

बूढ़ा भारत गर्व के साथ कहता है—'मैं आर्य प्रजा का जनक, पुरातन गौरव-गरिमा से मंडित देश हूँ। मुझे नंगा बनाने की विदेशियों ने कितनी ही चेष्टाएँ क्यों न की हों, मेरे बृहत्

भंडार में से विदेशी कितनी ही सम्पत्ति क्यों न लूट ले गये हों, फिर भी मैं सदा के लिए दरिद्र और नंगा नहीं हुआ हूँ। केवल दस वर्ष तक ही अगर हमारे यहाँ की गौएँ न मारी जावें, मेरा कच्चा माल बाहर भेजकर पक्का माल बाहर से न मँगाया जावे, तो मैं फिर वही सुवर्णकाल का भारत बन जाऊँगा ! मैं शीघ्र ही संसार के समुन्नत से समुन्नत किसी भी देश की तिस्पर्धा में बाजी मार लूंगा।

विदेशियों ने बुरे वस्त्र देकर आपको शौकीन बनाया और इस प्रकार भारत भूमि को वे नंगी कर रहे हैं। यह सब आपकी आँखों के आगे हो रहा है। क्या यह भाभी को नंगी करते देखने के समान नहीं है ? फिर इन कपड़ों को, जो तुम्हारी भारतमाता को नग्न करने के लिए खींचे गये हैं, पहनना भाभी को नग्न करने के लिए खींचे गये कपड़ों को पहनना नहीं है ? कौन मनस्वी और तेजस्वी पुरुष इसे सहन कर सकता है ?

कल बुखारी साहब ने मुसलमानों से कहा था—'विलायती कपड़े पहनना सूअर की खाल के समान है।' मैं आप से क्या कहूँ ? क्या मैं यह कहूँ कि विलायती वस्त्र पहनना गाय की खाल पहनने के समान है ? मरी हुई गाय की खाल तो फिर भी पैरों में पहनी जाती है, इसलिए क्या यह कहूँ कि विलायती वस्त्र पहनना जिंदा गाय की खींची हुई खाल पहनने के समान है ? जिन वस्त्रों की बदौलत हजारों-लाखों मनुष्य और प्राणी भूखे मरते हैं और जिनके लिए अनगिनत पंचेन्द्रिय पशुओं का कत्ल होता है और उन की चर्बी निकाली जाती है, उनके विषय में अगर कोई यह बात कहता है तो क्या अनुचित है ? दीर्घ

दृष्टि से और अपने रूढ़ संस्कारों से ऊँचे उठकर विचार करोगे तो आपको स्वयं मालूम हो जायगा कि सत्य क्या है ? आप इन वस्त्रों की वास्तविकता पर विचार करो तो महाहिंसा बन्द हो सकती है। मगर आप तो मूल को भूल कर डालियों की ओर देखते हैं। जड़ में जल न सींच कर पत्तों पर पानी छिड़कना चाहते हैं !

भारत के निवासी एक दूसरे को भाई समझें, सब सब से प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, अपने आप को एक ही देश का निवासी मानें, और भली भाँति समझ लें कि मजहब हमें आपस में लड़ना नहीं सिखाता—मेलजोल से रहना सिखाता है, तो भारत के दिन फिरने में विलम्ब नहीं लग सकता। अभीष्ट वस्तु प्राप्त होते फिर क्या देर लगेगी ?

भारत के दुर्दैव से आज हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे पर सन्देह करते हैं। एक को दूसरे पर विश्वास नहीं है। यही सब बुराइयों का मूल है। अगर संदेह त्याग कर सब लोग सेवाभाव को अपनावें तो देश का कल्याण होगा और देश के कल्याण का अर्थ है देशवासियों को शान्ति और साता पहुँचाना।

मैं यह कह रहा था कि क्या परमात्मा 'मोहनगारो' है ? इसका उत्तर यही है कि—हाँ, परमात्मा मोहनगारो है। उसमें अनोखा आकर्षण है। उसके आकर्षण के आगे दुनिया का कोई भी आकर्षण टिक नहीं सकता। उसके प्रति जब प्रेम उत्पन्न होता है तो उस प्रेम की शक्ति से भक्त लोग अपने सिर पर आग की ज्वाला जलती रहने पर भी मुस्किराते र ते , रोते नहीं हैं—न उद्विग्न होते हैं। गजसुकुमार मुनि में उन्हीं के प्रेम की शक्ति

थी। आप भी उन्हीं महापुरुषों की धर्मसंतान हैं, पर आप में इतनी भी दृढ़ता नहीं दिखाई देती कि पापमय वस्त्रों का भी परित्याग कर सकें।

इतनी-सी दृढ़ता भी न होने का मूल कारण है परमात्मा के प्रति प्रेम न होना। आपने अभी ईश्वर को नहीं पहचाना है। मैं पूछता हूँ, अगर आप मिल के वस्त्र पहनना छोड़कर शुद्ध खद्दर धारण करें तो परमात्मा नाराज होगा ? आप अपनी स्थिति पर इस प्रकार गंभीरता से गहरा विचार करें, अपने हृदय को सुदृढ़ बनावें, तो आपको मालूम होगा कि परमात्मा कितना मोहनगारो है ! परमात्मा का मोहनगारो रूप त्यागियों को नजर आता है। वह भोगियों को दिखाई नहीं देता। अतएव त्याग को अपनाओ। मैं अभी यह नहीं कहना चाहता कि सब लोग मेरी तरह फकीरी बाना पहन कर अनगार भिक्षु बन जाओ। यद्यपि भारत का पुरातन आदर्श यही है और परमात्मा का सान्निध्य इसी से प्राप्त होता है। फिर भी मैं यही कहना चाहता हूँ कि आप जितना शक्य हो, उतना त्याग करो। इस पथ पर चलना आरंभ करो। त्याग के बिना न यह लोक सुधरता है, न परलोक सुधरता है। सूक्ष्म पापों का त्याग नहीं कर सको, तो भी महापाप का तो अवश्य त्याग करो। ऐसा करोगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा।*

महावीर-भवन,
देहली
ता० १८-८-४२.

*पूज्यश्री के प्रवचन के पश्चात् श्रीयुत् अताउल्ला शाह बुखारी ने लगभग आध घंटे भाषण किया। बुखारी साहब ने पूज्यश्री के प्रवचन की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हुए विदेशी वस्त्रों के त्याग पर बल दिया।

मानवीय दया
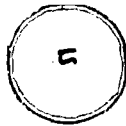
प्रार्थना

जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ॥

यहाँ श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की प्रार्थना की गई है। जीवन की कला को विकसित करने के लिए ईश्वर की प्रार्थना एक सफल साधन है। अगर आठ पहर—दिनरात ईश्वर की प्रार्थना हृदय में चलती रहे तो संसार दुःखप्रद नहीं हो सकता। यही नहीं, संसार के दुःख आत्म-जागृति के निमित्त बन कर कहेंगे—आत्मन्, तू अपने घर में क्यों नहीं चला जाता ? इस झंझट में काहे को पड़ा है ? प्रार्थना करने वाले को संसार के दुःख किस

प्रकार जागृत कर देते हैं, यह बात प्रार्थना करने वाला ही जानता है। जो मनुष्य संसार के प्रपंचों में ही रचापचा है, उसे यह तथ्य मालूम नहीं हो सकता।

कल मैंने आपको शास्त्र-श्रवण कराया था। आपने उस पर मनन किया है? जो वस्तु बिना कीमत चुकाये मिलती है वह या तो निकम्मी समझी जाती है या ऐसी समझी जाती है कि जिसका मूल्य ही नहीं हो सकता। जो उसे अनमोल समझेगा, वह उसके लिए अपना तन, मन, धन देने के लिए तैयार हो जायगा। जो चीज निकम्मी समझी जाती है उसे कोई अपने पास क्यों रखने लगा? अगर बिना मोल की वस्तु निकम्मी न समझी जाय तो उसका महत्व अत्यधिक होता है। बिना मोल दिये, अचानक मिला हुआ हीरा क्या निकम्मा होता है? नहीं। इस प्रकार जिसे हीरा मिलता है वह उसे अत्यन्त अनुराग की दृष्टि से देखता है और उसके मूल्य को समझने के लिए लालायित रहता है।

ज्ञानी के वचनों के लिए कीमत नहीं चुकानी पड़ती। तो क्या वे हीरे के समान ही अनमोल नहीं हैं? क्या वे आपको अनमोल—अत्यन्त महत्वपूर्ण—प्रतीत नहीं होते हैं? आप ज्ञानी पुरुषों के वचनों को मुफ्त मिले हीरे के समान समझें, तो अपने आत्मा से ही उन वचनों का मूल्य पूछ-पूछकर आनन्द का अनुभव किया करेंगे। लेकिन माया का घेरा बड़ा विचित्र है। माया के प्रभाव से मनुष्य अनमोल वस्तु को तो तुच्छ समझ कर फेंक देता है और जो वास्तव में तुच्छ और निस्सार है, उसका संग्रह

करने के लिए उत्सुक रहता है। प्रार्थना के रहस्य को समझने में जो असमर्थता है, उसका यह प्रबल कारण है।

कल भगवती सूत्र की जो बात कही थी उसका आपको स्मरण नहीं है। पर मैं कहता हूँ कि कल जो बात कही गई थी वही बात आज पार्श्वनाथ भगवान् की प्रार्थना में कही गई है।

आप लोग प्रतिदिन व्याख्यान सुनते हैं। व्याख्यान आपको इतना सस्ता मालूम होता है कि आज जो बात व्याख्यान में सुनते हैं उसे कल भूल जाते हैं। सुनी हुई बात पर बाद में आप प्रायः विचार नहीं करते, इस कारण उसका स्मरण नहीं रहता। फिर भी मुझे अपने कर्त्तव्य और समाज-हित को दृष्टि में रखकर, आत्मा को दबाकर भी कुछ न कुछ कहना पड़ता है। फिर भी प्रश्न होता है कि लोग ऐसी अमूल्य बातों की भी कद्र नहीं करते, इसका कारण क्या है ?

मेरे मस्तक पर जो भार लदा है, उसका विचार जब करता हूँ तो कँपकँपी छूटती है। मैं सोचता हूँ–हे आत्मन्, गणधर के आदेश को भूलकर तू तुच्छ विचार में क्यों उतर पड़ा ? आज तो यह दशा है कि हम समाज से प्रेरणा करते हैं–'हमारी बात सुनो।' लेकिन हम क्यों न ऐसा करदें, जिससे समाज हमसे कहे–'आप हमें अपनी बात सुनाइए।' इस स्थिति पर न पहुँच सकने का कारण आत्मनिर्बलता है। आत्मा को इस स्थिति में पहुँचने में कष्ट मालूम होता है। हम जिस काम को करना सोचते हैं और जिसमें अच्छाई का अनुभव करते हैं, उस काम को अपने आप नहीं कर डालते, यह आत्मिक दुर्बलता नहीं तो और क्या है ?

कर डालने और कह देने में बड़ा अन्तर है। बिना तोले-नापे एक भी शब्द का उच्चारण न करना साधु का उत्तरदायित्व है। लेकिन साधुता छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक है। छठा गुणस्थान-प्रमाद युक्त होता है, अतएव प्रमादजन्य त्रुटि का हो जाना स्वाभाविक है। साधु छद्मस्थ है, इसलिए दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। लेकिन विद्यमान दोषों को, त्रुटियों को दूर करने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है, यह समझ कर त्रुटियों में सन्तोष नहीं मानना चाहिए। इससे त्रुटियाँ बढ़ती हैं, घटती नहीं हैं। त्रुटियों को किसी भी प्रकार बढ़ने नहीं देना चाहिए।

प्रार्थना में जो बात कही गई है; भगवती सूत्र में भी वही बात कही गई है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है:—जीव आत्मारम्भी है, परारम्भी है, उभयारम्भी है, या निरारम्भी है ? भगवान् ने उत्तर दिया है—जीव चारों प्रकार के हैं। तब गौतम स्वामी ने पूछा- एक ही आत्मा आरंभी और निरारंभी—दोनों प्रकार का कैसे है ? यह दो भेद क्यों हैं ? यदि यह भिन्नता है, तो स्वाभाविक है या औपाधिक है ? उसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि स्वरूप से यह भिन्नता नहीं है। स्वभाव से आत्मा निरारंभी है। आत्मा अपनी वैभाविक परिणति में आरंभी होता है।

यह वर्णन भगवती सूत्र का है। भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना में वह बात कही है, जिसे शून्य शिखर कह सकते हैं। आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। आपने किसी को जितना रुपया दिया उतना उसने आपको लौटा दिया, तो बाकी क्या रहा ?

'शून्य !'

पाँच रुपये दिये और पाँचों वापस आ गये। दूसरे ने दस रुपये दिये और दसों वापस आ गये। तो दोनों का बाकी रहा शून्य बराबर है या उसमें कुछ भेद है ?

'भेद है !'

पाँच का एक शून्य होता है और दस के दो शून्य होते हैं ! वास्तव में पाँच के वापस आ जाने पर उतना आनन्द नहीं होता जितना दस के वापस आने पर होता है। यह एक ऐसी बात है जो रोजमर्रा के अनुभव से आप लोग भली-भाँति समझ सकते हैं।

कई लोग पूछते हैं—मुक्ति में सुख क्या है, जिसके लिए हम धर्म करें ? मैं पूछता हूँ—आपके ऊपर एक हजार का ऋण था। आपने वह ऋण पूरा चुका दिया। तो आपको क्या मिला ?

'आनन्द होता है !'

आनन्द किस बात का होता है ? खाने-पीने या भोग भोगने का आनन्द ऋण चुकाने से मिलता है ?

'नहीं !'

तो फिर क्या आनन्द मिला ? आपके इस अनुभव से एक बात यह सिद्ध होती है कि खाने-पीने आदि के सुख से उच्चतर कोई सुख और है, जिसे पाने के लिए आपने एक हजार रुपया खाने-पीने में न लगाकर ऋण अदा करने के लिए दे दिये। लेकिन वह सुख कैसा है, आप उसे कह नहीं सकते। वास्तव में वह सुख कहने का नहीं है—उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया

जा सकता। जो वस्तु निखालिस अनुभव-गम्य है उसे शब्दों के सांचे में ढालकर मूर्त्त रूप नहीं दिया जा सकता। आत्मा उसका अनुभव ही कर सकता है।

आप अब तक ऋण के बोझ से दबे थे। वह उतर गया। उसके उतर जाने से आप एक प्रकार का हल्कापन अनुभव करते हैं, एक प्रकार का संतोष आपके हृदय में घुस जाता है और निराकुलता उत्पन्न हो जाती है। आत्मा की यह निराकुल स्थिति वर्णनातीत है। इसी प्रकार आत्मा पर जो ऋण चढ़ा है वह अगर उतर जाय तो आनन्द का अनुभव होगा या नहीं? उस आनन्द को कोई कह नहीं सकता। उस आनन्द का किसी-किसी ने 'नेति-नेति' कह कर संकेत किया है। आचारांग सूत्र में कहा है–

तक्का तत्थ न विज्जइ।

अर्थात्–वहाँ न तर्क का प्रवेश हो सकता है, न बुद्धि का व्यापार ही होता है।

अब अगर कोई पूछता है कि मोक्ष है या नहीं? तो इसका प्रश्नात्मक उत्तर यह है कि शून्य है या नहीं?

'है!'

अगर शून्य है तो वह किस काम का है? अगर वह न हो तो काम चल सकता है या नहीं?

'नहीं!'

मित्रो! दुनियादारी की खटपट छोड़कर हम लोगों को इसी शून्य में पहुँचना है। उस शून्य को ही मोक्ष या निर्वाण कहते

हैं। उसे मोक्ष कहो, मुक्ति कहो, या निर्वाण कहो, वह है शून्य ही। उस शून्य में पहुँचकर अनिर्वचनीय आनन्द की अमर अनुभूति करनी हो तो अपने सिर का बोझ—अपना ऋण उतार कर फेंक दो। बोझ सिर पर लाद कर उस उच्चतम स्थिति पर पहुँचना असंभव है। भगवान् ने आत्मा पर पाँच प्रकार के ऋण बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। यह सब मिल कर १२३४५ होते हैं। अगर इन में से एक मिथ्यात्व कम हो जाय तो दस हजार कम हो जाँयगे और उक्त संख्या २३४५ ही रह जायगी। मगर मुश्किल तो यही है कि मिथ्यात्व नहीं छूट रहा है। जो पदार्थ सुखदाता नहीं है, जिससे आत्मा का संबंध नहीं है, उसी को आत्मा ने सुखमय मान रक्खा है। उदाहरणार्थ—क्या नमक के बिना नहीं खाया जा सकता? लेकिन अभ्यास ऐसा पड़ गया है कि नमक के बिना काम नहीं चल सकता। उसके बिना सारा भोजन नीरस और फीका जान पड़ता है।

एक बार मैं एक पुल पर होकर जा रहा था। तब मैंने देखा, एक बन्दर पुल की कोचकार में पड़े हुए फल के टुकड़े को निकाल कर खा रहा था। बन्दर के सामने, कोई एक हाथ पर रोटी रक्खे और दूसरे पर फल रक्खे तो वह फल को ही लेगा, रोटी को नहीं। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में लिखा है कि, मनुष्य पहले फूल-फल आदि के आहारी थे। सच्चे मनुष्य भी वही थे। आज तो बिना पाँच-सात तेज मसाले वाली तरकारी के काम नहीं चलता। लेकिन वास्तव में इस प्रकार का भोजन स्वाभाविक मानवीय भोजन नहीं है। मनुष्य की कुदरती खुराक सादी है।

जैसे मनुष्य प्राकृतिक भोजन त्याग कर चटपटे मसालेदार भोजन का आदी हो गया है उसी प्रकार आत्मा अपने स्वाभाविक रूप को भूल कर उपाधियों में पड़ा हुआ है। इस प्रकार सादगी रखने में ही सच्चा धर्म है। धर्म में नमक की नाँई चटपटेपन की गुंजाइश नहीं है। वह तो सादगी में रहता है। गौतम स्वामी ने इसी आधार पर प्रश्न किया था और भगवान् ने उस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि जीव उपाधि से आरंभी है, पर स्वरूप से अनारंभी है। आरंभ आत्मा का निज धर्म नहीं है, मगर वह उपाधि से जकड़ा हुआ है।

जीव दो प्रकार का है—एक वह जो खटपट में पड़ा है और दूसरा वह जो खटपट से छूटकर शून्य में जा पहुँचा है।

संसार के सुख-दुःख का लेनदेन चलता ही रहता है। आज तुम जिसे कष्ट देते हो, कल वही तुम्हें कष्ट देता है। यह देना-लेना तब तक खत्म नहीं हो सकता जब तक कि जीव शून्य में नहीं पहुँच जाता। यह देन-लेन का हिसाब क्यों चलता है, यह बात प्रार्थना में बताई जा चुकी है।

वहेमी भय माने यथा रे सूने घर वैताल।

वहम का भूत कैसा लगता है, यह मेरे बालकपन के अनुभव की बात है। मेरे (सांसारिक) मामाजी की दुकान के पास कुछ ही दूरी पर एक सूना घर था। लोग उस सूने घर में भूत का बास बतलाया करते थे। रात के समय उधर से निकलने में भय लगता था—कहीं भूत इसमें से निकल न पड़े! इसलिए मैं चक्कर खाकर जाया करता था। भूत कभी देखा

नहीं था, फिर भी वह मेरी कल्पना में बड़ा ही भयावना था और उससे मुझे भय लगता था।

भय का वास्तविक कारण न होने पर भी वहमी भय की कल्पना करके भीत होता है। उसे साधारण वस्तु भी भयंकर प्रतीत होने लगती है। संसारी जीव को बाहरी भूत ने ही नहीं आन्तरिक भूत ने भी भ्रम में डाल रखा है। यह आन्तरिक भूत घोर अनर्थ का कारण बना हुआ है। मिथ्यात्व रूपी भूत ने जीव को ऐसा फँसा रक्खा है कि उसके मारे जीव संसार के भ्रम-जाल को अपना मान बैठा है। उसका ज्ञान विपरीत हो रहा है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी में भी साँप का भ्रम हो जाता है। इस का कारण यह है कि रस्सी को रस्सी रूप में निर्णय करने के लिए अपेक्षित प्रकाश का वहाँ अभाव रहता है। जहाँ पर्याप्त प्रकाश नहीं है, वहाँ भ्रम हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

जिस प्रकार अन्धकार में रस्सी भी साँप जान पड़ती है, उसी प्रकार संसार के विषय में आप सोचेंगे तो आपको यहाँ भी वही बात नजर आएगी। अज्ञान के कारण आत्मा संसार-मय प्रतीत हो रहा है। लेकिन, कहाँ संसार और कहाँ आत्मा! मगर जैसे रस्सी को साँप समझ लिया जाता है, उसी प्रकार भ्रम के कारण आत्मा अपने से विलग संसार को भी अपना ही मान रहा है। इस विषय पर अब अधिक न कहकर दूसरी तरह से कहना चाहता हूँ।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा कि आत्मा मूल स्वभाव से निरारंभी है। आरंभ की क्रिया छठे गुणस्थान में तो रहती

है पर सातवें गुणस्थान में नहीं रहती। इस दृष्टि से विचार करें तो इस स्तर से तीन भेद फलित होते हैं :—(१) शरीर सहित आरंभी (२) शरीर सहित निरारंभी और (३) शरीर रहित निरारंभी। जब तक शरीर है तब तक मरा तो जाता नहीं, इसलिए चलना-फिरना, खाना-पीना भी होता ही है। फिर भी आरंभ वहीं है जहाँ असावधानी है। जहाँ प्रमाद है वहाँ आरंभ है। जहाँ प्रमाद नहीं वहाँ आरंभ भी नहीं है। केवली के पैर के नीचे अचानक आकर कोई जीव दब जाय या मर जाय तब भी आरंभ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि गफ़लत ही आरंभ है।

मेरी जान गफ़लत मत कर रे !
मेरी जान क्रोध बिच डोले,
माया से छकियो बोले।
लालच से झुकतो तोले,
बना तू किताब काजी का,
तमाशा चहलबाज़ी का॥

जैन सिद्धान्त गफ़लत—असावधानी—प्रमाद का त्याग करने का आदेश करता है। आप व्याख्यान में सावधान होंगे तो कहेंगे—हम सामने देख रहे हैं, हम गाफ़िल नहीं हैं। गाफ़िल वह है, जो बैठा-बैठा नींद ले रहा है। लेकिन जो आदमी नींद में है उसे क्या कहा जाय ? हम तो उससे कहना चाहते हैं, जो जानते-बूझते भी गफ़लत में पड़े हैं। बल्कि सोता हुआ आदमी उतना गफ़लत में नहीं रहता, जितना जागता हुआ आदमी

गफ़लत में रहता है। सोने वाले को रस्सी में साँप का भ्रम नहीं होता। यह भ्रम तो जागने वाले असावधान को ही होता है। ग्रामीण आदमी अर्थशास्त्र नहीं जानते, अतएव उन्हें आजकल होने वाली मुद्रा संबंधी हलचल की चिन्ता ही नहीं है। जैसी चिन्ता आपको रहती होगी वैसी उन्हें नहीं रहती होगी। अतएव गफ़लत में मत रहो। रस्सी को रस्सी समझने के लिए जिस प्रकाश की अपेक्षा है उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। मिथ्यात्व और अज्ञान के अंधकार का परदा फाड़ कर फेंक दो। वास्तविक वस्तुतत्त्व को समझो।

बताइए, क्रोध कौन करता है ? सोने वाला या जागने वाला ?

'जागने वाला !'

दीवाला फूंक कर दूसरों को डुबाने का प्रयत्न सोने वाला करता है या जागने वाला ?

'जागने वाला !'

इस प्रकार जागने वाले सोने वालों से भी भयंकर हैं। वे घोर भावनिद्रा में सोये पड़े हैं। जो लोग बेईमानी से धंधा चलाते हैं, वे कुछ दिनों तक भले ही चुहलबाजी करलें, लेकिन चुहलबाजी का तमाशा समाप्त होने पर उन्हें हाय-हाय करनी पड़ेगी। कोई बेईमानी से चाहे जितनी कमाई करे, लेकिन दूसरा आदमी एक ही ठहराव से उसकी सारी कमाई डुबा देता है। ऐसा होते हुए भी लोग समझते नहीं हैं और धर्म के काम भी अविवेक से कर रहे हैं। आप संसार को जानते हैं तो दगाबाजी के काम छोड़कर सचाई को ही क्यों नहीं अपनाते ? ज्ञानियों का कथन

अनसुना करके और मूर्खों का कहना मानकर संसार उल्टा चल रहा है। किसी महामूर्ख से कहा जाय कि तेरा कान कौआ ले गया है तो वह कौए के पीछे दौड़ेगा लेकिन अपना कान नहीं देखेगा। लोगों के कहने से अज्ञानतापूर्ण बातों में पड़ने वाले और ज्ञानियों की बात की अवहेलना करने वाले लोगों की भी लगभग यही दशा है। सारा संसार इसी चक्कर पर चढ़ कर घूम रहा है!

मैंने विवेकानन्द या रामतीर्थ के व्याख्यान में पढ़ा था कि यूरोप ज्वालामुखी के ऊपर वाली चट्टान के समान हो रहा है। ज्वालामुखी के ऊपर की चट्टान किस क्षण नष्ट हो जायगी, सो किसे पता है? दगाबाजी और झूठे विज्ञान के फंदे में जो फँसा, वह ज्वालामुखी के ऊपर वाली चट्टान के समान है। ऐसी चट्टान ज्वालामुखी के भड़कते ही उड़ जाती है।

महायुद्ध से पहले यूरोप बड़ी ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। युद्ध में लाखों-करोड़ों रुपयों का गरीबों से छीना हुआ माल समुद्र के उदर में चला गया होगा, अरबों का धन तोपों से उड़ा दिया गया होगा, बड़े-बड़े मकान और सुदृढ़ दुर्ग ढा दिये गये और सुधरे हुए तथा बुद्धिमान् कहलाने वाले लोग बमों और गोलों के शिकार बना दिये गये। इसके अतिरिक्त लगभग डेढ़ करोड़ गरीब सैनिक मौत के मुँह में ढेल दिये गये। ऐसी विषैली गैस का प्रयोग किया गया जिससे लोगों का दम घुट जाय और तत्काल मरण हो जाय। यह सब परिणाम 'साइन्स' के नये संस्करण का ही है। लोग पहले सत्तर मील की दूरी से गोला फैंकने वाली तोप, एक मिनिट में सैकड़ों गोले बरसाने वाली

तोप आदि आविष्कारों को देख-सुन कर आश्चर्य करते और प्रसन्न होते थे। लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ, सो अब देखो। हिंसा का यह घोर अनर्थ अन्य देशों को नहीं दिखाई दिया, यह केवल भारतवर्ष को ही दिखाई दिया। भारत पहले से ही ऐसी हिंसा का विरोध करता रहा है और आज भी वह अपनी पूर्वकालीन परम्परा पर चट्टान की तरह दृढ़ है। गांधीजी के नेतृत्व में आज भी भारतवर्ष अहिंसा की ध्वजा फहरा रहा है और पुकार-पुकार कर कहता है—लोगो! हमारी बात सुनो। अगर तुम शान्ति और सुख के साथ रहना चाहते हो, तो अपने झूठे विज्ञान को, हिंसा रूपी पिशाचिनी के पिता इस विज्ञान को समुद्र में डुबा दो। हिंसा को अपने देश के अभ्युदय का साधन मत समझो। हिंसा तो किसी के देश को तबाह करने वाली है। जब तक संसार अहिंसा की ध्वजा के नीचे नहीं आ जाता, तब तक संसार नरक से बेहतर नहीं बन सकता!

गांधीजी भारतीय हैं। इसलिए नहीं कि उनका जन्म भारतवर्ष में हुआ है, वरन् इसलिए भी कि उनका आचार-विचार, उनका दिल और दिमाग़ भारतीय है। वे भारतीय परम्परा को अपने जीवन में ओतप्रोत किये हुए हैं। इसी कारण उन्होंने अहिंसा की असीम शक्ति का अनुभव किया है। वे कहते हैं—'संसार मारामारी से तंग आ गया है। इसलिए मैं मारामारी से मिलने वाले स्वराज्य को स्वीकार करने की अपेक्षा स्वराज्य की प्रतीक्षा करना पसन्द करूँगा।'

जैन शास्त्रों के सिवाय ऐसी बात कौन कह सकता है? अन्य शास्त्र अहिंसा का निरूपण करते हैं, फिर भी वे युद्ध को

धर्म बतलाते हैं। मैंने महाभारत देखा है। महाभारत का परिणाम तो शून्य में जाना है। लेकिन ऊपर से तो उसमें सिवाय मारकाट के और कुछ दिखाई न देगा। जैन शास्त्रों में यह बात नहीं है। यद्यपि पीछे वालों ने यह लिख दिया है कि युद्ध करना श्रावक का धर्म है, परन्तु मूल जैन शास्त्र की यह बात नहीं है। बल्कि एक युद्ध में एक करोड़ अस्सी लाख आदमी मारे गये थे, उनके विषय में भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा था कि इनमें से दस हजार तो मछली की कूंख में उत्पन्न हुए। एक स्वर्ग में गया। एक मनुष्य हुआ। शेष सब नरक और तिर्यञ्च योनि में गये हैं। अगर युद्ध करना धर्म होता तो युद्ध में भाग लेने वालों की गति ऐसी न होती।

आप लोगों ने अहिंसा का अर्थ जीव न मारना, इतना ही समझ लिया है। आप दया भी सूक्ष्म जीवों की ही करके अहिंसावादी बनाना चाहते हैं, क्योंकि इसमें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। मनुष्य की दया करने में तो क्रोध, मान, माया, मोह, आदि छोड़ना पड़ता है। इस कारण लोगों ने दया को सूक्ष्म जीवों की हिंसा न करने में ही सीमित कर दिया है। भाई-भाई आपस में कट मरेंगे और स्थावर जीवों की दया में आगे रहेंगे। भाई को मारने, उसका नाश करने, उसे हानि पहुँचाने और उसका हक़ छीनने को तैयार रहते हैं, फिर भी कहते हैं—'मैं महीने में छह दया पालता हूँ !' क्या यही दया का स्वरूप है ? ऐसा करने से दया हो जाती है ? पृथ्वीकाय के जीवों की दया पालना उत्कृष्ट है, पर पहले, पहले के खाते तो पूरे करो ! कपड़ों का त्याग करते समय पहले पगड़ी का त्याग किया जाता है या

धोती का ? आज यह हाल हो रहा है कि पगड़ी तो छोड़ते नहीं और धोती छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं।

आज मनुष्य-दया के कम होने से यह परिणाम हो रहा है कि कोई मनुष्य यदि किसी पशु को मारता हो तो लोग उस पशु को मारने वाले को मारने पर उतारू हो जाते हैं। राजा मेघरथ को कबूतर बचाना था तो क्या वह उस पारधी को थप्पड़ मार कर कबूतर नहीं बचा सकता था ? वह राजा था। चाहता सो कर सकता था। बेचारे पारधी को भगाना, दंड देना उसके लिए मामूली बात थी। लेकिन मेघरथ ने कबूतर के बदले अपना मांस दिया। सब लोग पारधी पर आग बबूला हो रहे थे। उसे डाट-फटकार रहे थे। मगर पारधी कहता था—मैं राजा का तन कहाँ माँगता हूँ ? मैं तो अपना कबूतर माँगता हूँ। राजा मेरा कबूतर मुझे दे दें, मैं चला जाऊँगा ! किन्तु राजा ने अपना तन दिया, कबूतर नहीं दिया। मेघरथ का यह कार्य धर्म हुआ या अधर्म ?

'धर्म !'

यह बात यहाँ पर कह कर ही आप न रह जावें।

जब विदेशी वस्त्रों पर पिकेटिंग (धरना) था तब पुरुष और स्त्रियाँ विदेशी वस्त्र पहनकर मुनि-दर्शन के लिए नहीं आती थीं। लेकिन इस वर्ष पिकेटिंग नहीं है; अतएव पहले के सँभाल कर रक्खे हुए विदेशी वस्त्र यदि यहाँ, मेरे दर्शन के लिए आने पर पवित्र न किये जावेंगे तो फिर कब और किस जगह पवित्र होंगे ? क्या यही तुम्हारा कर्त्तव्य है ? जैनधर्म की उन्नति और

मानव-दया के खातिर कम से कम विदेशी और मिल के अपवित्र वस्त्र तो त्यागो !

पहले सौ दो सौ रुपये में गहने हो जाते थे, लेकिन आज इतने रुपये गढ़ाई में ही चले जाते हैं। आज चन्दनबाला का आदर्श कहाँ चला गया ! शरीर पर लँगोटा लगा हुआ, सिर पर बाल नहीं, हाथ-पाँव में हथकड़ी-बेड़ी, फिर भी उसने त्रिलोकीनाथ भगवान् महावीर को खींच लिया ! आज निर्ग्रन्थ और भगवान् महावीर की शिष्याएँ इतनी दुर्बल-हृदया क्यों हैं ? आपके हृदय में मेरे प्रति भक्ति का भाव है, इसी कारण आप मेरे दर्शन करने चले आते हैं। लेकिन आपके शरीर पर इन विलायती और मिल के वस्त्रों को देख कर मेरा चित्त प्रसन्न नहीं होता। अगर आप मुझे प्रसन्न करना चाहते हैं तो थोड़ा त्याग कीजिए। महारंभ के काम छोड़ कर सादगी और संयम धारण करने से ही मेरा हृदय प्रसन्न होता है। सादगी धारण करने से आपको लाभ तो है ही, दुनिया में भी आप अच्छे दिखाई देंगे और मैं भी उससे प्रसन्न होऊँगा। फिर आपको और क्या चाहिए ?

जिसमें मनुष्य की दया प्रकट होगी वह धन्ना की तरह त्याग करेगा। पहले बतलाया जा चुका था कि धन्ना ने अपने भाइयों को प्रसन्न करने के लिये बहुत प्रयत्न किया, पर वे लोग उससे प्रसन्न न हुए। उनका विरोध निरन्तर बढ़ता ही चला गया।

मगर धन्ना, भाइयों का सारा वैर पीकर शिव बन गया। पुराणों में कहा है कि समुद्र मथने पर रत्न और अमृत आदि

पदार्थ निकले। उन पदार्थों को तो सब ले गये, पर जहर निकला उसे कौन पिये ? अगर उसे न पिया जाय तो मनुष्यों को मरना पड़ेगा। तब सब ने मिल कर महादेव से प्रार्थना की—यह विष आप पी जाइए। महादेव इस विष का पान कर गये और मरे भी नहीं। वे इसे हजम कर गये। यह अलंकार है। भगवान् महावीर ने भी चण्डकौशिक का सारा जहर पी लिया था।

धन्ना भी ऐसा ही शिव बना। वह अपने भाइयों का जहर पीना चाहता है। इसलिये वह लंगोटा लगा कर, भिखारी का भेष बना कर दरिद्रनारायण बन गया। उसने घर की समस्त सम्पदा भाइयों के लिए छोड़ दी। वह किस भावना से प्रेरित होकर घर से निकल पड़ा, यह संक्षेप में यहाँ बतलाया जाता है:—

धनो मन धीरज ध्यान विचारे।
त्याग जीवन अपनो सुधारे ॥ धनो० ॥
शुद्ध जीवन निर्दोष जीवन जीवन जीना मेरा।
चन्द्रकला सम उज्ज्वल शीतल जग शीतल तब केना ॥ धनो० ॥
ताप त्रय तपियो जग आखो सुख शान्ति पहुँचायो।
ऐसा ठाठ जीवन का बाँधूँ सुख सर पर बन जायो ॥ धनो० ॥
अभय सत्य अहिंसा बल से आतम ज्योति जगायो।
प्रेम प्रभू का नेरी प्रकटे विश्वराय बन जाया ॥ धनो० ॥

धन्ना ने विचार किया—त्याग से मेरा जीवन सुधरेगा। वास्तव में मेरे भाई नहीं बिगड़े हैं, मैं बिगड़ा हूँ। मैंने अपने भाइयों को 'बाप' कहा है और मेरे बिगड़ने से वे बाप बिगड़ रहे हैं। उनको सुधारने के लिए पहले मुझे सुधरना होगा। जो स्वयं

बिगड़ैल है वह दूसरों को क्या सुधारेगा ? अतएव उन्हें सुधारने के लिए पहले, अभय, अहिंसा आदि सद्‌गुणों का लाभ करके मैं सुधरूँगा और सब से प्रेम करके 'विश्वराय' बन जाऊँगा।

जहाँ कहीं मुझे आर्त्तनाद सुनाई पड़ेगा, जहाँ कोई पीड़ित पुरुष पुकार रहा होगा, वहीं मैं भागा-भागा जाऊँगा और उन दुखियों की आँखों के आँसू पोंछूंगा। जो पंगु हैं उनका पैर बनूंगा, जो निस्सहाय हैं उनका यथाशक्ति सहायक बनूंगा। जिन्हें सेवक की आवश्यकता होगी उनकी आवश्यकता पूरी करूँगा। मैं दुखियों के दुःख दूर करूँगा।

मित्रो ! अगर आप यह मान लेंगे कि धर्म हमारे लिये है तो आपके हृदय में दिव्य विचारों का उदय होगा।

धन्ना अपने भाइयों की इतनी बुराइयों और विरुद्ध व्यवहारों को पी गया और आप लोग अपने दोषों के प्रति अन्ध बन कर दूसरे के दोषों को देखने में कितनी कुशलता धारण करते हैं !

मान लीजिए, एक बालक ने मलोत्सर्ग कर दिया। कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे, कुछ नाक दबाकर हटने लगे। एक आदमी ने आकर उस पर धूल डाल दी और दूसरे ने मैला उठा कर फैंक दिया। बताओ, इन सब में बड़ा कौन है ?

'फैंकने वाला !'

आज नाक-भौं सिकोड़ने वाले बहुत हैं पर उठाकर फैंकने वालों का अभाव-सा है। धन्ना यही आदर्श उपस्थित करने जा रहा है। वह क्रियात्मक धर्म का अनुसरण कर रहा है।

धन्ना कहता है—मुझ में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाय कि मैं डर को ही डरा दूँ, मगर स्वयं न डरूँ। मेरा नाम सांसारिक प्राणियों में ही रहे, पर मेरे कर्त्तव्य विरक्तों से भी बढ़ कर हों।

क्या जैन धर्म के अनुसार ऐसा हो सकता है कि सांसारिक रहते हुए भी वैरागी से बढ़ कर काम करे ?

'नहीं !'

तो फिर 'गृहिलिङ्ग सिद्ध' यों ही कह दिये हैं ?

धन्ना कहता है—मैं अपना बाह्य वेष तो गृहस्थ का ही रक्खूंगा, फिर भी ज्योति जगाऊँगा। आज वीरोचित वैराग्य के विषय में जो सन्देह फला हुआ है, मैं उसका निवारण अपनी साधना द्वारा करूँगा। अहिंसा वीरों की है या कायरों की ?

'वीरों की !'

मगर यह बात केवल कहने भर को है या अन्तःकरण से भी ऐसा ही मानते हो ? अहिंसा वीरों की है, यह बात प्रमाणित करने के लिए असहयोग आन्दोलन के अवसर पर कभी बाहर भी आये हो ? अहिंसा सुदर्शन सरीखे वीर की है, जो अहिंसा का माहात्म्य प्रकट करने के लिए हिंसा के सामने जाता है। जो निर्बल हिंसा की जड़ उखाड़ने के लिए आगे नहीं आता, उसने अहिंसा को नहीं जाना !

धन्ना कहता है—मैंने स्नेह का धन और स्नेह की झौंपड़ी छोड़ दी है, अतएव मेरे स्नेह की संकीर्ण सीमाएँ आज समाप्त होती हैं। अब सारा संसार मेरे लिए समान है। संसार के सभी

प्राणी मेरे भाई हैं, समस्त संसार मेरा घर है और सारे संसार का वैभव ही मेरा वैभव है। आज से मैं अपने व्यक्तित्व को विस्तीर्ण बनाता हूँ।

स्वार्थ स्नेह मुझे न डिगावे, नहिं मैं धोखा खाऊँ।
हाथ जोड़ प्रभु चरण कमल में, भायूं शीस नमाऊँ॥ ध०॥

धन्ना कहता है—प्रभो! मेरे अन्तःकरण में अत्यन्त शुचि भावना उत्पन्न हुई है, लेकिन स्वार्थ की भावना उत्पन्न होकर कहीं इस भावना को दबा न देवे! मनुष्य का मन सिनेमा के दृश्यों की भाँति अस्थिर है। एक भाव उत्पन्न होता है और फिर तत्काल ही दूसरा भाव उसके स्थान पर अपना अधिकार कर बैठता है। विशुद्ध भावना को मलीमस भावना उसी प्रकार ग्रस लेती है जैसे चन्द्र को राहु ग्रस लेता है। अतएव हे प्रभो! मैं आपसे आपका बल चाहता हूँ, आपकी शरण चाहता हूँ। मुझे दया कर ऐसा दिव्य बल प्रदान कीजिए जिससे स्वार्थ की मलीन भावना मुझे अपने विशुद्ध विचारों से विचलित न कर सके।

इस प्रकार की भावना करता हुआ धन्ना घर से निकल पड़ा। चलते-चलते जब दोपहर हो गया तब उसे भूख लगी। धन्ना उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह थक कर एक वृक्ष की छाया में बैठ गया। सामने ही एक किसान खेत में हल चला रहा था। वह भी विश्राम करने के लिए उसी वृक्ष के नीचे आ गया। यद्यपि धन्ना भिखारी के भेष में था, फिर भी भाग्य और आकृति छिपाये नहीं छिपती। धन्ना को गौर से देखकर किसान

सोचने लगा—यह भिखारी कोई साधारण भिखारी जान नहीं पड़ता। यह तो कोई महापुरुष मालूम होता है। किसान इस प्रकार मन ही मन सोच रहा था कि उसी समय उसके घर से, उसके लिए रोटी आ गई।

सेठ लोग तो आड़ में बैठकर भोजन करते हैं परन्तु किसानों में आज भी यह बात देखी जाती है कि वे दूसरे को खिलाकर आप खाते हैं। जंगली कहलाने वाले भीलों में भी यह रिवाज-सा है कि अगर भोजन करते समय भील के यहाँ दूसरा भील आजाय तो वह उसे थोड़ा-बहुत खिलाता ही है। पर जंगली जाति के रिवाज को सभ्य समाज क्यों अपनाने लगा!

जिसके हृदय में जैसी भावना होती है उसे वैसा आदमी मिल ही जाता है। अन्नदान के समय पात्र-कुपात्र का विचार नहा किया जाता।

रोटी आने पर किसान ने धन्ना की मनुहार की। धन्ना ने आधुनिक सभ्योचित मायामयी सभ्यता के वश होकर असत्य का आश्रय नहीं लिया। उसने यह नहीं कहा कि मुझे भूख नहीं है। उसने कहा—मैं भूखा तो अवश्य हूँ, पर मेरा प्रण है कि मैं काम किये बिना मुफ्त का भोजन नहीं करता। अगर तुम रोटी खिलाना चाहते हो तो पहले काम बताओ।

किसान चकित रह गया। ऐसा भिखारी तो उसने आज तक नहीं देखा। अधिकांश भिखारी मुफ्त का खाने के लिए ही भिख-मंगे बनते हैं, पर एक यह है जो बिना काम किये खाने से इन्कार करता है! तिस पर यह बड़ा सुकुमार है। इससे किसानी

का काम कैसे होगा ? मेरे पास इस काम के सिवाय और क्या काम है ? इस प्रकार सोचकर किसान बोला—तुम अत्यन्त सुकुमार हो, सुन्दर हो। मैं बड़ा कठिन काम करता हूँ। यह काम तुमसे न होगा। इसके अतिरिक्त मेरा भी एक प्रण है। मैं जिसे रोटी खिलाता हूँ उससे काम नहीं लेता। क्या तुम मेरा प्रण भंग करना चाहते हो ?

धन्ना—नहीं। मैं आपका प्रण भंग नहीं करना चाहता, पर आप भी मेरा प्रण भंग न होने दीजिए।

किसान असमंजस में पड़ गया। उसने देखा—अतिथि का प्रण दृढ़ है और वह इतना निस्पृह भी मालूम होता है कि भूखा ही रह जायगा ! तब वह बोला—अच्छा, पहले भोजन कर लो। फिर कुछ न कुछ काम भी बता देंगे।

धन्ना दृढ़ रहा। बोला—ऐसा न होगा। पहले काम करूँगा, फिर भोजन करूगा। बिना काम किये भोजन करने का अधिकार किसको है ?

आज भोजन का राज्य है। पहले भोजन, फिर काम। पहले के पंच लोग भी काम करने के पश्चात् जीमते थे। आज पंचों के पास कोई जाय तो उत्तर मिलेगा—'भाई, तुम्हारे पचड़े तो लगे ही रहेंगे, पहले पेट तो भर लेने दो। बताइए, ऐसे पंच, पंच रहे या टुकड़ेल ? श्रीकृष्णजी दुर्योधन के घर गये थे। दुर्योधन ने कहा—भोजन तैयार है। पहले भोजन कर लीजिए। कृष्णजी ने कहा—पहले काम कर लें, तब भोजन करगे। दुर्योधन ने आग्रह किया—नहीं, पहले आतिथ्य स्वीकार कर लीजिए। आखिर यहाँ

तक नौबत पहुँची कि कृष्णजी दुर्योधन के यहाँ से चल दिये और उन्होंने विदुर के घर आकर भोजन किया !

किसान ने धन्ना से कहा—मेरे यहाँ दूसरा काम तो है नहीं, क्या तुम हल चला सकोगे ? पर हल हाँकना कठिन और मिहनत का काम है।

धन्ना—मैं हल चलाने का काम बखूबी कर सकता हूँ।

धन्ना सेठ मिट कर हलवाहा बना। उसने कहा—जिसे हल हाँकना नहीं आता उसे अन्न खाने का क्या अधिकार है ? मैं अन्न खाना चाहता हूँ तो मुझे हल चलाना आना ही चाहिए ? मैं भूखा हूँ। अगर तुम्हें करुणा आती हो तो काम दो।

किसान निरुपाय था। वह अतिथि को भूखा नहीं रहने दे सकता। उसने कहा—अच्छा, वह है हल। उसे चलाओ और फिर भोजन करना।

धन्ना ने हल चलाने की विधि से हल चलाया। वह ऐसी कला जानता था जिससे बैलों को कष्ट भी न हो और जमीन भी भली-भाँति जुत जाए। किसान उसकी हल चलाने की कला देखकर दंग रह गया। वह भी हल के साथ-साथ चला !

धन्ना ने हल चलाया तो जमीन के ढेले ऊपर आये। हल चलने के साथ ही खन-खन शब्द होने लगा। किसान ने खनखनाहट की ध्वनि सुन कर धन्ना को हल ठहराने के लिए कहा। लेकिन धन्ना हल हाँकता ही चला गया और उसे वहाँ ठहराया जहाँ खेत की मेड़ आ गई। किसान ने देखा, धन का एक समूचा हंडा ऊपर आकर बिखर गया है। वह सोचने लगा-

यह खेत सात पीढ़ियों से मेरे पास है। हमेशा हल हाँका करता हूँ। मगर आज तक कभी धन नहीं निकला था। किसान बहुत प्रसन्न था। उसने धन्ना को वह धन दिखाया। धन्ना ने साधारण भाव से कहा—इसके लालच में पड़ कर भूखे रहना ठीक नहीं। चलो, रोटी खाएँ।

धन्ना और किसान रोटी खाने चले। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य सच्चे भाव से धर्म कि आराधना करता है, परमात्मा के प्रति दृढ़ आस्था रखता हुआ व्यवहार करता है, वही सुख-शान्ति का अधिकारी होता है। आप धन्ना का अनुकरण करेंगे तो आपका कल्याण होगा !

महावीर-भवन,
देहली
ता० ८-१०-३१.

मोती बनाम अन्न
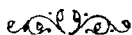
प्रार्थना

श्री महावीर नमूं वरनाणी ॥

प्रार्थना रूपी शीशे में आत्मा का दर्शन करना चाहिए। जैसे दर्पण में मुख देखा जाता है उसी प्रकार प्रार्थना रूपी मुकुर में आत्मा के भाव निहारे जाते हैं। सच्ची और अभेद भावना से की हुई प्रार्थना का प्रभाव बहुत अधिक होता है। यों तो प्रार्थना एक से ही शब्द में होती है, लेकिन उसे गाने वाले विभिन्न लोगों की भावना भिन्न-भिन्न होती है। और

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इस उक्ति के अनुसार जिसकी जैसी भावना होती है उसे प्रार्थना का फल वैसा ही प्राप्त होता है।

दुनिया के व्यवहार सभी जानते हैं। सभी को विदित है कि कौन-सा काम किस भावना से किया जाता है। मैं अपने पहले के किसी व्याख्यान में कह चुका हूँ कि जब किसी बड़े घर में विवाह होता है तो बहुत-सी स्त्रियाँ गाने के लिए आती हैं। सभी स्त्रियाँ मिल कर एक गीत गाती हैं, मगर सब की भावना एक नहीं होती। कोई रिवाज के लिए, कोई बताशे लेने के लिए और कोई किसी अन्य भावना से गाती है, मगर गृहस्वामिनी की भावना कुछ निराली ही होती है। वह गाने के उपलक्ष्य में कुछ लेती नहीं, देती है।

संसार-व्यवहार की यह बात आप जानते ही हैं कि जब तक गृहस्वामिनी में ऐसी उदारता न हो, वह माता के महत्त्वमय पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में माता किसी प्रकार का पुरस्कार नहीं चाहती, अगर वह कुछ चाहती है तो पुरस्कार देना चाहती है। वह अपने प्रिय पुत्र के विवाह के अवसर पर जितना अधिक दे सकती है, उतना ही अपना यशोविस्तार और कल्याण समझती है।

अभी मैंने जो प्रार्थना की है, उसमें आपने कण्ठ से या भाव से सहायता पहुँचाई है। इस प्रार्थना की भाषा इतनी सरल सुबोध है कि उसे कोई भी समझ सकता है। विवाहोत्सव के अवसर पर लोग दूल्हे के पिता को धन्यवाद देते हैं। भगवान्

महावीर की इस प्रार्थना में भी यही आया है कि—महारानी त्रिशला माता को धन्य है, जिनकी प्रार्थना इन्द्र ने की है। इन्द्र कहता है—हे रत्नकुक्षिधारिणी ! हे जगद्विख्याता ! हे महा-महिमा-मंडिता माता ! आप धन्य हैं। आपने धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले और भव-सागर से पार उतारने वाले, संसार में सुख एवं शान्ति की संस्थापना करने वाले त्रिलोकीनाथ को जन्म दिया है। अम्बे ! आप कृतपुण्या और सुलक्षणा हैं। आपने जगत् को पावन किया है।

प्रसंगवश मैं पूछता हूँ कि माता का पक्ष बड़ा होता है या पिता का ? इन्द्र भगवान् की माता का गुणगान करता है पर पिता को सर नहीं झुकाता, इसका क्या कारण है ? देवों का राजा इन्द्र, मनुष्यों में से सांसार-त्यागियों को छोड़ कर अगर किसी को नमस्कार करता है तो केवल तीर्थंकर भगवान् की माता को ही। और किसी के सामने इन्द्र का मस्तक नहीं झुकता !

इस प्रश्न का उत्तर मिलना आज कठिन है। पुरुषों ने स्त्रियों की आज जो अवहेलना की है उस अवहेलना की छाया में इस प्रश्न का उत्तर सूझना कठिन है। हाँ, अगर आप तटस्थ होकर विचार करेंगे तो आपको ज्ञान होगा कि महिलावर्ग के प्रति किस प्रकार अन्याय किया जा रहा है ! पुरुषों ने स्त्री-समाज को ऐसी परिस्थिति में रक्खा है, जिससे वे निरी बेवकूफ रहना ही अपना कर्त्तव्य समझें। कई पुरुष तो स्त्रियों को पैर की जूती तक कहने का साहस कर डालते हैं। लेकिन तीर्थंकर की माता को प्रणाम करके इन्द्र क्या बता गया है, इस पर विचार करो। इस

पर भी विचार करो कि इन्द्र ने तीर्थंकर की माता को क्यों प्रणाम किया और तीर्थंकर के पिता को क्यों प्रणाम नहीं किया ?

मैं स्त्रियों के लिए पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का समर्थक नहीं हूँ, लेकिन उन्हें निरक्षर रखना ब्राह्मी का अपमान करना है या नहीं ? ब्राह्मी ने अक्षरों का संचार किया था। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी को ही सर्वप्रथम अक्षर का ज्ञान कराया था। भरत और बाहुबली को तो फिर मिले थे। इसी कारण ब्राह्मी के नाम से हमारी लिपिमाला 'ब्राह्मीलिपि' कहलाती है, यद्यपि समयानुसार उसमें कई प्रकार के परिवर्त्तन होते गये हैं। ब्राह्मी कन्या थी। आज की भाषा में ब्राह्मी को 'सरस्वती' कहते हैं, मगर 'सरस्वती' नाम भी स्त्रीवाचक ही है। स्त्री को दी हुई विद्या पुरुष पढ़ें और स्वयं स्त्रियाँ न पढ़ें, यह न्याय है या अन्याय ? अज्ञान के कारण आज पुरुष का आधा अंग (स्त्री) निकम्मा हो रहा है। आज की स्त्रियाँ न कुछ कह सकती हैं, न सुन सकती हैं, न प्रश्न कर सकती हैं। वे पर्दे के भीतर बंद रहती हैं। भगवान् महावीर के समवशरण में स्त्रियाँ भी प्रश्न कर सकती थीं, लेकिन यहाँ स्त्रियाँ प्रश्न कर सकती हैं ? अगर कोई महिला यहाँ धार्मिक प्रश्न करे, तो उसे आप निर्लज्ज होने का फतवा देने में देर न करेंगे।

मैं पूछता हूँ, इन्द्र ने महारानी त्रिशला को नमस्कार किया था सो क्या भूल की थी, या महाराज सिद्धार्थ महारानी त्रिशला की अपेक्षा किसी बात में कम थे ? महारानी त्रिशला को इन्द्र ने प्रणाम किया, इसका कारण यह है कि भगवान् महावीर माता के ही निकट हैं। भगवान् को बड़ा बतलाना, और भगवान्

जिनके अति सन्निकट हैं उन्हें बड़ा न बतलाना, यह उनका अपमान है।

इन्द्र उसको प्रणाम करता है जिसके पास भगवान् हों। इन्द्र उसकी स्तुति करेगा जो भगवान् का सच्चा भक्त और भगवान् का निकटवर्त्ती होगा। अगर तुम भगवान् के समीप-वर्त्ती बन जाओगे तो लोग कदाचित् भगवान् को भूल करके भी तुम्हारे पास आएँगे!

भगवान् की प्रार्थना में कहा है—

आगम-साख सुणो छे एहवी,
जो जिनसेवक थाय हो सुभागी।
तेहनी आसा पूरे देवता,
चौंसठ इन्द्रादिक सेव हो सुभागी॥

कवि कहता है—हे शान्ति जिनेन्द्र! तू जिसका सहायक है, जो तेरे आश्रित है, उसकी आशा पूरी करने के लिए देवता आते हैं। इन्द्र भी उसकी सेवा करते हैं।

आप लोगों को इन्द्र और भगवान् में से कौन प्यारा लगता है?

'भगवान्!'

भगवान् तो आपकी मनोकामना पूरी करने नहीं आते; मनोकामना की पूर्त्ति के लिए तो इन्द्र आता है। फिर भी भगवान् ही प्यारे लगते हैं?

आज उल्टा चक्कर चल रहा है। लोग इन्द्र को तो

चाहते हैं परन्तु भगवान् को नहीं चाहते ? इन्द्र, भगवान् की माता के पास प्रणाम करने जाता है, पर भगवान् की माता क्या उससे किसी प्रकार की याचना करती हैं ? वह सोचती हैं—जो मेरे पुत्र की प्रशंसा करने आया है, उससे मैं क्या माँगूं ? आज गांधीजी के कहने से लोग लाखों का त्याग कर देते हैं, अपने ऐश्वर्यमय जीवन से मुँह मोड़ कर घोर यातनाएँ सहन करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, कारागार के कठोर कष्ट सहन करते हैं; लेकिन मेरा कहना न मान कर लोग विलायती वस्त्र पहनते और खरीदते हैं, यह मेरी वाणी का दोष है या पहनने और खरीदने वालों का ? अगर मेरी वाणी में प्रबल शक्ति होती, मुझ में पूर्णता होती, तो 'विलायती वस्त्र त्याज्य'—इतना कहते ही सब श्रोता विलायती वस्त्रों का त्याग कर देते। मैं नंगा रहने के लिए नहीं कहता, मगर अन्य लोगों के त्याग से पीछे तो न रहो ! मैं पूछता हूँ कि जिस सूत से किसी को फाँसी दी गई हो उस सूत का कपड़ा लेना उचित है या नहीं ?

'नहीं !'

इसी प्रकार जिस वस्त्र की बदौलत भारत के निर्धनों को फाँसी दी जा रही है—उन्हें भूखों मारा जा रहा है—उनकी रोटी छीनी जा रही है, उस वस्त्र को पहनना क्या उचित हो सकता है ? अगर आपको धर्म पर सच्चा विश्वास हो तो धर्मगुरु का मना किया हुआ काम आप कदापि न करेंगे। अलबत्ता, धर्मगुरु बनाते समय आप गहरा सोच-विचार कर लें और देख लें कि जिसे आप अपना धर्मगुरु बना रहे हैं उसमें वैसी योग्यता है या नहीं है। जिसे समझ-बूझ कर आपने गुरु बना

लिया हो, वह अगर आपको कुपथ में जाने से रोकता है, तो आपको मानना चाहिए। यदि आप अपने ही रास्ते पर चलते हैं तो गुरु बनाने का क्या प्रयोजन रहा ? गुरु से आपने क्या लाभ उठाया ?

मित्रो ! यह समय विलायती वस्त्र खरीद कर भोगमय जीवन व्यतीत करने का नहीं है। नाटक-सिनेमा देख कर आमोद में पड़े रहने का नहीं है। गरीबों और अनाथों को अपनाने का यह समय है। अपने युगानुकूल कर्त्तव्य को पहचानो और उसकी पूर्त्ति के लिए दृढ़चित्त होकर उद्यत बनो।

तीर्थंकर की माता को इन्द्र नमस्कार करता है, लेकिन तीर्थंकर की माता इन्द्र को नहीं चाहती वरन् तीर्थंकर को चाहती हैं। आज लोग कहते हैं—तेला करने पर भी देवता नहीं आते, लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम कि पहले के लोग कब देवता को बुलाते थे और कब देवता आते थे ! आज कायरता नस-नस में व्याप रही है, पुरुषार्थ होता नहीं है, इसलिए देवता को बुलाते हैं, जिससे देवता आकर सीधी तरह मन चाही वस्तु दे जावे। अकर्मण्यता इतनी फैल रही है कि बस चले तो स्त्री के लँहगे भी देवता से ही धुलवावें ! आप लोग इतने स्वार्थी और आलसी हो गये हैं। देवता ज्ञानी हैं। वे आवें तो कैसे ?

कल मैंने धन्ना के पुरुषार्थ का वर्णन किया था। आलस्य उसे छू भी नहीं गया था। धन्ना का चरित्र सुन कर आप भी पुरुषार्थ करना सीखें और आलस्य छोड़ें। धन्ना ने पहले किसान की मजदूरी की, तब भोजन किया।

धन्ना ने जिस कला के साथ हल चलाया, उसे देख कर सदा हल चलाने वाला किसान भी चकित रह गया। धन्ना के हल चलाने से न मालूम हल की नोंक जमीन में ज्यादा गहरी चली गई, या देवता ने सहायता की; लेकिन यह तो निर्विवाद है और इस बात को सभी जानते हैं कि सम्पत्ति भूमि से ही निकलती है और भूमि से सम्पत्ति उपजाने का साधन हल ही माना जाता है।

आप लोग हल हाँकने वाले को हिकारत की निगाह से देखेंगे तो फिर भगवान् ऋषभदेव को भी हिकारत की दृष्टि से देखना पड़ेगा। इस युग में सर्व प्रथम उन्होंने ही हल हाँका था। जब कल्पवृक्षों से आजीविका का निर्वाह होना संभव न रहा और मनुष्य कोई भी कला नहीं जानते थे, उस समय अगर उन्होंने हल चला कर आजीविका की समस्या हल न की होती तो मनुष्यों की क्या दशा होती? भगवान् अनन्त शक्ति के धनी थे। उन्हें जादू के खेल की तरह के कई खेल करते भी आते होंगे। अगर भगवान् उस समय इस तरह के खेल करते तो कदाचित् उस समय काम चल जाता, परन्तु आज भी क्या उसी खेल में आपका निर्वाह हो जाता?

'नहीं!'

भगवान् ने जादू सरीखा खेल करके तत्कालीन मानव प्रजा का दुःख दूर नहीं किया। उन्होंने पुरुषार्थ करने का उपाय बताया और स्वयं अपने हाथ में हल पकड़ कर जनता को समझाया—'देखो, यह भूमि रत्नगर्भा है। इसमें से रत्न निकालते रहो। उनका कभी अन्त न आएगा।'

मोती महँगे हैं या अन्न ?

तुलसी तब ही जानिये, बड़ा गरीबनिवाज ।
मोती कण महँगा किया, सस्ता किया अनाज ॥

हे भगवान् ऋषभदेव ! तू बड़ा गरीबनिवाज था । तू भूखों का साथी और दुखियों का दुःख दूर करने वाला था । कहाँ तेरा त्रिलोकीनाथ और इन्द्रपूजित पद और कहाँ खेत में हल चलाना !

तुलसीदासजी ने यहाँ मोती को महँगा और अनाज को सस्ता बताया है सो केवल आर्थिक दृष्टिकोण को लेकर ही । जीवन के दृष्टिकोण से अगर विचार करोगे तो विदित होगा कि जीवन में मोती का महत्त्वपूर्ण स्थान तनिक भी नहीं है । करोड़ों मनुष्य बिना मोती के अपना जीवन यापन करते हैं और उच्चतम तथा आदर्श जीवन बिताने वालों के पास अगर मोती हों तो उनका भी वे त्याग कर देते हैं । ऐसी स्थिति में जीवन के दृष्टिकोण से मोती का मूल्य कुछ भी नहीं है । मगर अन्न के विना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता । प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह वैरागी हो या रागी हो, शरीरयात्रा के लिए अन्न का उपयोग करना ही पड़ता है ।

अतएव अन्न बहुत अधिक मूल्यवान है । अगर कोई मनुष्य ऐसी जगह में पहुँच जाय जहाँ उसके पास मोतियों का ढेर तो हो पर अन्न का एक भी दाना न हो, तो उस मनुष्य की क्या स्थिति होगी ? क्या वह मोती चबा कर जीवित रह सकेगा ?

जिस समय कल्पवृक्षों से भोजन मिलना बंद हो गया था, उस

समय भगवान् ऋषभदेव इन्द्र का स्मरण नहीं कर सकते थे ? आज लोग यंत्र से देवता बुलाना चाहते हैं तो क्या भगवान् ऋषभदेव को देवता बुलाना नहीं आता था ? उन्होंने इन्द्र या अन्य किसी देवता को न बुला कर अपने हाथ में हल क्यों सँभाला ? भगवान् ऋषभदेव अपने हाथ से हल न चलाते तो आप हल चलाने को नीच कार्य समझते और कहते कि अगर हल चलाना निंद्य कार्य न होता तो भगवान् हल क्यों न चलाते ? मगर भगवान् ने हल चला कर इस प्रकार के तर्क-वितर्क की जड़ ही उखाड़ फैंकी है।

खेती करना पन्द्रह कर्मादानों में है या नहीं ?

'है !'

मकान बनाने के लिए पत्थर खुदवाते हो और फिर उनसे मकान बनवाते हो, इसमें कर्मादान का दोष लगता है या नहीं ?

'नहीं।'

यदि व्यापार के लिए कोई पत्थर खुदवाता है तो ?

'कर्मादान लगता है !'

इसी प्रकार यदि दूसरे को मारने के लिए खेती की जाय तब तो चाहे कर्मादान लगे, लेकिन दूसरे को पालने के लिए खेती करने में कर्मादान नहीं है। कौन-सा कृत्य कर्मादान है और कौन-सा नहीं, इस बात का विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्मादानों का संबंध व्यापार से है।

कुछ लोग अज्ञानवश खेती को अनार्य धंधा कहते हैं।

परन्तु यदि प्रज्ञापना सूत्र को निकाल कर देखा जाय तो विदित होगा कि खेती अनार्य धंधा नहीं है, वरन् आर्य धंधा है। अगर इसे अनार्य धंधा ठहराया जायगा तो लोगों का जीवित रहना कठिन हो जायगा।

खेती करने में आरंभ अवश्य होता है। धन्ना आगे चल कर खेती का भी त्याग करेगा और भगवान् ऋषभदेव ने भी खेती का त्याग कर दिया था। आरंभ जितना भी त्यागा जाय उतना ही श्रेय है। पर आरंभ-त्याग में भी विवेक की आवश्यकता है। आरंभ की भी श्रेणियाँ हैं। किस श्रेणी पर पहुँच कर किस प्रकार का त्याग करना शास्त्रसंगत है, यह सब विवेक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी धंधे के संबंध में यथार्थता का विचार करना चाहिए। भली भाँति वस्तुतत्त्व को समझे बिना, खेती को आर्य-धंधा या अनार्य-धंधा ठहरा देना न्याययुक्त नहीं है। आप खेती नहीं करते, इस कारण खेती करने को आप अनार्य कर्म मान बैठते हैं। इससे विपरीत वास्तव में जो अनार्य कर्म है और जिसे आप करते हैं, उसे आर्य कर्म बतला देते हैं। आप अनार्य कार्य करते हुए भी आर्य बने रहते हैं और कृषकों को बिना समझे-बूझे अनार्य ठहरा देते हैं। क्या यह न्याय है ? नहीं।

तात्पर्य यह है कि हल से धन निकलने की बात आज भी मिथ्या नहीं मानी जा सकती। धन्ना ने हल का चौंस (कूंड) निकाल दिया और फिर कृषक से कहा—अब धन देखने में समय मत गँवाओ, चल कर रोटी खा लो। धन्ना की इस निस्पृहता से किसान के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह सोचने लगा—यह

कोई देव तो नहीं है ! इसको ऐसी शक्ल है, फिर भी हल चलाने का काम इसने इतनी सुन्दरता से किया ! हल चला कर इसने धन निकाल दिया है और अब ऐसी बातें करता है–मानो इसके लिए धन कोई वस्तु ही नहीं है ! पहले इसे रोटी दे रहा था, तब इसने लेना स्वीकार नहीं किया, अब उतावला होकर रोटी माँग रहा है !

किसान ने धन्ना से कहा—कहाँ तो तुम्हारे यह करतब और कहाँ मेरे यहाँ की रूखी-सूखी मोटी रोटी ! मोटी रोटी और मामूली तौर पर उबाला हुआ बिना मसाले शाक तुम खा सकोगे ? मुझे संदेह है कि तुम इन रोटियों को पचा सकोगे; पर लो, खाओ।

धन्ना—तुम भी खाओ और मैं भी खाऊँ। मैंने तो एक ही चाँस जोता है, मगर तुमने तो सारा खेत जोता है।

धन्ना और किसान दोनों रोटी खाने लगे। धन्ना को वह मोटी रोटी कैसी लगी होगी ?

'मीठी !'

यद्यपि रोटी जाट के घर की है, मोटी है, शाक भी अच्छा–स्वादिष्ट न होगा, लेकिन धन्ना को भूख लगी है। कड़ी भूख में जैसा भोजन मिल जाय वही मीठा लगता है।

धन्ना रोटी खाते-खाते कहता है–राम की बात आज ही याद आई ! राम शबरी के दिये हुए फल खाकर कहते थे—लक्ष्मण ! राजा जनक के घर षट्रस भोजन किया और माता के हाथ के भोजन का भी स्वाद चखा, लेकिन सच्चा भोजन तो आज ही मिला है। महाराज जनक ने दामाद के नाते जिमाया और माता

ने पुत्र के नाते, लेकिन इस भीलनी ने किस नाते जिमाया है ? भीलनी के साथ मेरा क्या रिश्ता है ? उसे मुझ से क्या स्वार्थ है ? इस भोजन में निःस्वार्थता की जो अनुपम मधुरता है वह उस भोजन में नहीं थी।

धन्ना भोजन करके जाने लगा। किसान ने कहा—जाते कहाँ हो ? यह तुम्हारा धन है। इसे साथ लेते जाओ।

कृषक की भावना पर विचार करो। उसने धन्ना को प्रेम-पूर्वक भोजन कराया और उसके खेत में जो धन निकला वह भी धन्ना का ही ! इस भावना से किसान उसे धन ले जाने का आग्रह करता है। वह कहता है—भाई, अपना धन तुम्हीं बटोरो। मुझे कहाँ कारागार में फँसाते हो !

धन्ना—मैंने तो रोटी के लिए हल चलाया था सो रोटी मिल गई। इसके सिवा मेरा कुछ नहीं है। तुम्हारे खेत में जो निकला वह सब तुम्हारा है।

धन्ना सोचने लगा—यह किसान भी धन्य है। यह कृत-पुण्य है। मैं सोचता था, मैं त्यागी हूँ। पर मेरे घर में तो धन भरा था और यह किसान खेती करके पेट पालता है। इसी के खेत में, इसी के हल से अचानक धन का चरू निकला और यह कहता है—अपना धन लेते जाओ। इसके त्याग के सामने मेरा त्याग फीका पड़ गया है। जब मैं घर का उतना धन छोड़ आया हूँ तो यह धन क्या लूं ? अपने भाइयों को सुधारने के लिए घर का धन छोड़ा तो यह धन मिला। अगर किसान को सुधार के लिए इसे भी त्याग दूँगा, तो आगे और मिलेगा।

धर्म का माहात्म्य साधारण नहीं है। धर्म का आचरण तनिक भी वृथा नहीं जाता।

धन्ना किसान से अपना हाथ छुड़ाकर चल दिया। किसान चिल्लाता ही रहा, लेकिन धन्ना न लौटा।

धन्ना के चले जाने पर किसान सोचने लगा—हम तो खेत से केवल अन्न उत्पन्न करने वाले हैं। खेत में से जो धन निकला है वह मेरा नहीं, राजा का है। इस प्रकार विचार कर वह राजा के पास पहुँचा। उसने राजा से कहा—आज धन्ना नामक एक दरिद्री-सा दिखाई देने वाला आदमी मेरे खेत पर आया था। वह ऊपर से ऐसा मालूम होता था, पर था कोई बड़ा आदमी। उसने रोटी के लिए मेरे खेत में हल चलाया। उसने खेत में एक चाँस निकाला। उसी चाँस में धन का एक चरू निकला। पहले तो मैंने उसे यों ही जिमाना चाहा। पर वह नहीं माना। उसने चाँस चलाया और धन का यह चरू जमीन में से निकल पड़ा। यह चरू या तो उसका है या फिर आपका हो सकता है। वह तो उसे ले नहीं गया। अब आप कृपा कर उसे मँगवा लीजिए। उस चरू पर मेरा अधिकार नहीं है। मैं उसे नहीं रख सकूंगा।

किसान की कैफियत सुन कर राजा ने कहा—वह निस्पृह पुरुष धन्यवाद का भागी है। अगर वह मुझे मिले तो मैं उसके पैरों में गिरूँ। पर वह तो चला गया। तुम हो, सो वह धन तुम्हीं अपने पास रहने दो।

किसान—अन्नदाता, जिस धन पर मेरा अधिकार नहीं है, उसे मैं कैसे रक्खूँ? उस धन का उपयोग मैं नहीं कर सकूंगा।

जब किसान धन लेने के लिए किसी भी प्रकार तैयार न हुआ तो राजा ने धन निकलने के स्थान पर उसी धन से एक गाँव बसा दिया। उस ग्राम का नाम रक्खा गया—धनवर्गू। धन्ना के नाम पर उस ग्राम को जागीर करके उसी किसान को उसका पटेल बना दिया गया।

इस कथानक से यह प्रकट है कि जो भगवान् का भरोसा रखता है, और अपने जीवन को निरपेक्ष बना लेता है, वह धन्ना के समान बन कर कहीं और कभी कष्ट नहीं पाता। भगवद्भक्ति का ऐसा ही प्रभाव है। अगर आप भगवान् की प्रार्थना करते हुए इस प्रकार निस्पृह बनेंगे तो आपको लक्ष्मी के लिए देश-विदेश नहीं भटकना पड़ेगा, लक्ष्मी स्वयं आकर आपके चरण चूमेगी और आपका कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० ९-१० ३१.

१०

वीर संघ

प्रार्थना

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी, प्रभु अन्तरयामी आप ।
मो पर म्हेर करीजे हो,
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काटो पुराकृत पाप ॥ श्री० ॥

अपने आत्मा को शान्ति देने के लिए प्रार्थना की जाती है और इसीलिए प्रार्थना के विषय में दो शब्द उचारे जाते हैं। मैं अपने जीवन का प्रार्थनामय देखने के लिए लालायित हूँ। ऐसा

करना कर्त्तव्य भी है और इसी में आत्मा का कल्याण भी है। मेरे विचार में क्या साधक-जीवन में और क्या गृहस्थ-जीवन में, सर्वत्र सर्वदा प्रार्थना अपूर्व वस्तु है। आत्म-शान्ति का यह अत्यन्त उपयोगी और सफल साधन है।

मैंने भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना की है। यों तो भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना महाकवियों ने प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण भाषा में की है। प्रौढ़ भाषा में उनका गुणानुवाद किया है। किन्तु बाल जीवों के लिए बाल-भाषा में की हुई यह प्रार्थना भी साधारण नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्ति में भाषा का नहीं, केवल भावना का महत्त्व है। जब हृदय में तीव्र भक्ति का उद्रेक होता है तब भाषा दासी बन कर दूर खड़ी रहती है। उस समय उसके सौन्दर्य और बनाव की ओर भक्ति-विह्वल पुरुष आँख उठा कर भी नहीं देखता।

जैन शास्त्रकारों ने भगवान् ऋषभदेव के चरित्र का जो चित्रण किया है, स्तुतिकार ने उसका संकलन करके उन्हें इस स्तुति में स्थान दिया है। हमें यह देखना है कि इस स्तुति का सबसे बड़ा और प्रधान आदेश क्या है ?

प्रत्येक धर्मसेवक का यह कर्त्तव्य होता है और उसे यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस धर्म को उसने अपने गले का हार बनाया है, अपने आत्मा का आभूषण समझा है, जिस धर्म से अनन्त सुख और अक्षय शान्ति प्राप्त होने का उसे विश्वास है, उस धर्म के लिए किसी भी प्रिय से प्रिय वस्तु को न्योछावर करने से वह पीछे न हटे। जो धर्म को विशेष और

सर्वाधिक कहता है, मगर धर्म के लिए किसी वस्तु का त्याग करने में संकोच करता है, समझना चाहिए कि उसने धर्म का महत्व नहीं समझा है।

धर्म के क्षेत्र में तो भगवान् ऋषभदेव का महान् उपकार है ही, किन्तु संसार-व्यवहार में भी उनका असीम उपकार है। भगवान् ऋषभदेव ने संसार के प्राणियों को मरने से बचाया है। पुराण की कल्पना है कि जब पृथ्वी पाताल लोक में डूब रही थी, तब भगवान् ने वाराह रूप धारण करके उसका उद्धार किया था। इस कल्पना का फलितार्थ है संसार के प्राणियों को संकट से मुक्त करना। भगवान् ऋषभदेव ने जगत् को दुःखों से उबारा था। जब कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाले भोजन आदि का मिलना बन्द हो गया तब मानव-समाज पर घोर संकट उपस्थित हो गया। इस भीषण सकट के समय भगवान् ऋषभदेव ने जनता को आश्वासन देते हुए कहा—'घबराओ मत। अब तक कल्पवृक्ष देते थे, अब मैं ऐसी कला बतलाता हूँ, जिसके प्रयोग से तुम दूसरों को देने योग्य बन जाओगे। कल्पवृक्ष तुम्हारे हाथ का खिलौना है। उस पर निर्भर न रह कर आत्मनिर्भर बनो। पर-निर्भरता सदा संताप का मूल है। कोई भी मनुष्य पर-निर्भर रह कर सुखी नहीं रह सकता।'

इस प्रकार आश्वासन देकर भगवान् ने जगत् को ऐसी कला का दान दिया कि जो वस्तु कल्पवृक्ष से माँगनी पड़ती थी वह घर में ही हो गई। भगवान् की कला के वरदान का फल संसार आज भी भोग रहा है। कल्पवृक्षों से जो-जो पदार्थ मिलते थे वह सबके सब भगवान् द्वारा दी हुई कलाओं से भी मिलने लगे।

कुछ लोग कहते हैं कि युगलिया अच्छे थे, जिन्हें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता था। लेकिन वास्तविकता क्या है ? माँग कर लाना अच्छा है या स्वयं पैदा करके खाना अच्छा है ?

जो व्यक्ति भगवान् ऋषभदेव की बताई हुई कला का महत्व नहीं जानता और बिना परिश्रम किये—बिना उपार्जन किये—खाना चाहता है, वह भगवान् ऋषभदेव को ही नहीं जानता। ऐसे लोग भगवान् ऋषभदेव की कला का अपमान करने वाले हैं।

यहाँ पर आशंका हो सकती है कि भगवान् ने जीवनोपयोगी कलाओं की शिक्षा तो दी, मगर यांत्रिक कला-आधुनिक विज्ञान, की शिक्षा नहीं दी, इसका क्या कारण है ? भगवान् अतिशय ज्ञानी—अवधिज्ञान के धनी थे, फिर भी क्या उन्हें इस विज्ञान का परिचय नहीं था ?

इस आशंका के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह विज्ञान भगवान् के ज्ञान से बाहर नहीं था। परन्तु वह संसार की रक्षा करना चाहते थे, संसार में शान्ति का संचार करना चाहते थे। वे ध्वंस को आमंत्रित करना नहीं चाहते थे। संसार को प्रलय की ओर प्रेरित करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसी कारण उन्होंने आजकल सरीखे विज्ञान का शिक्षण नहीं दिया। यह विज्ञान मानव जाति के लिए वरदान नहीं, अभिशाप है और इसकी बदौलत मनुष्य पशु बनता जा रहा है। भगवान् ऋषभदेव मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करना चाहते थे तो पशुत्व की ओर घसीट ले जाने वाले विज्ञान का—विषैले,

विनाशकारी और विकृत ज्ञान का उपदेश क्यों देते ? अगर भगवान् इस विज्ञान का उपदेश देते तो, जो संसार कल्पवृक्षों का अभाव होने पर भी विनष्ट होने से बचा रहा, वह संसार भी विनाश के गर्त्त में गिर जाता। जिन्होंने आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों में योग दिया है, आज वे स्वयं ही उससे घबराने लगे हैं ! काउण्ट टॉल्स्टाय ने आधुनिक साइंस का अध्ययन करके कहा है कि इस साइंस की कृपा से एक दिन संसार भूखों मरने लगेगा।

मैं आप लोगों से ही पूछता हूँ कि पचास वर्ष पहले के जमाने से आज के जमाने में क्या अन्तर है ? आज यन्त्रकला में विस्मयजनक अभिवृद्धि हुई है। महीनों की यात्रा घंटों में ही समाप्त हो जाती है। सारे संसार के साथ सब का सन्निकट संबंध स्थापित हो गया है। भोग और ऐश्वर्य के साधन सरलता से जुटाये जा सकते हैं। इतना सब-कुछ होने पर भी पचास वर्ष पहले मनुष्यों में परस्पर जो प्रेम था, संतोष था, सादगी थी, निराकुलता थी और जीवन-निर्वाह के लिए वास्तव में उपयोगी पदार्थों की बहुलता थी, और इन सब सद्‌गुणों के कारण संसार में जो शान्ति थी वह सब आज कहाँ है ? संसार का गौरव बढ़ाने वाली विभूतियाँ आज क्यों और कैसे विलीनप्राय हो गई हैं ? आपकी व्याकुलता आज बढ़ी है या घटी है ?

'बढ़ी है !'

आज वैद्यों और डाक्टरों की संख्या बढ़ गई है, वकील-बैरिस्टर बढ़ते जाते हैं; लेकिन इनसे रोग और मुक़दमे घटे हैं या बढ़े हैं ?

'बढ़े हैं !'

भगवान् ऋषभदेव ज्ञानी नहीं थे या उन्हें यह साइंस मालूम नहीं था, यह बात नहीं है। ऐसा होने पर भी उन्होंने आधुनिक विज्ञान की प्रवृत्ति नहीं की। यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि भारत के महात्मा गहरे से गहरे विचार में उतरते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने भौतिक विज्ञान के दुष्परिणामों का विचार करके उसे प्रचलित नहीं किया। किसी को झूठा अभिमान न हो, सब समान भाव से रहें, भविष्य में प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न हो, इन विचारों से आधुनिक भौतिक विज्ञान नहीं चलाया। उन्होंने स्वयं अपने हाथ में हल पकड़ा और कुंभार की तरह बर्त्तन घड़े।

इस प्रकार की कला बता कर भगवान् ने समझ लिया कि अब मनुष्यों के लिए चारों गतियों के दरवाजे खुले हुए हैं। यह जब तक कार्य नहीं करते थे तब तक नरक में तो नहीं जाते थे, पर मुक्ति प्राप्त करने के साधनों का भी आचरण नहीं कर सकते थे। कला बताने के पश्चात् भगवान् ने सोचा—अब तक यह लोग नरक गति के योग्य काम नहीं करते थे इस कारण नरक में नहीं जाते थे; किन्तु अब लोग आपस में लड़ेंगे-मरेंगे और नरक में भी जाएँगे। अब इनके लिए नरक का मार्ग भी खुल गया है। अतएव इन्हें नरक से बचाकर मोक्ष के मार्ग पर कैसे लगाया जाय ? इस प्रकार विचार कर उन्होंने संसार के समक्ष एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने अपनी संसारयात्रा समाप्त करने से पूर्व स्वयं संयम ग्रहण करके मोक्षमार्ग बताया।

तीर्थंकर किसी कर्त्तव्य को सिर्फ कह कर नहीं वरन् स्वयं करके बतलाते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने यह बताने के लिए संयम धारण किया कि संसार के प्राणी आरंभ-परिग्रह की अग्नि में न जलते रहें। संसार-त्याग का राजमार्ग बताने के लिए भी भगवान् ने अपने चार हजार मनुष्यों के परिवार के साथ दीक्षा धारण की। अकेले भगवान् ऋषभदेव ने ही दीक्षा धारण नहीं की वरन् उन्होंने अपने पुत्रों और पुत्रियों को भी दीक्षा दी। भगवान् ने पुत्रियों को दीक्षा दी तो क्या यह समझा जा सकता है कि पुत्रियों की शादी करने योग्य धन उनके पास नहीं था ? या पुत्रियों के योग्य घर-वर नहीं मिलता था ? अगर यह बात न थी तो उन्होंने अपनी पुत्रियों को ब्रह्मचारिणी क्यों रक्खा? भगवान् ने सोचा – हम जिस मार्ग पर संसार को जगा कर ले जाना चाहते हैं उस मार्ग के पथिक कुटुम्ब सहित बन जाएँगे तो संसार उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत होगा। लोगों को उस मार्ग की महत्ता का खयाल आ जायगा।

आजकल के लोग भी संसार-त्याग और संयम धारण को श्रेयस्कर समझते हैं और संसार का त्याग करने वालों की यथाशक्ति पूजा भी करते हैं, दूसरों को त्याग करने का उपदेश भी देते हैं, मगर जब अपने या अपने घर पर आ बनती है तब चुप्पी साध लेते हैं। यही नहीं, विरोध भी करते हैं और जहाँ तक वश चलता है, संसार-त्याग में रुकावट डालने से नहीं चूकते।

आप चाहते हैं कि समाज में उच्च कोटि के साधु हों, उच्च कोटि की साध्वियाँ हों; लेकिन अपने कुटुम्ब को संसार में ही फँसाये रखना चाहते हैं। अगर आप प्रतिष्ठित और उच्च कुटुम्बों के साधु चाहते हैं और आप स्वयं भी ऐसे हैं, तो साहस कीजिए। भगवान् ऋषभदेव का पूर्णरूपेण न सही, आंशिक रूप में ही अनुकरण कीजिए। भगवान् ने अपने अट्ठानवे पुत्रों को और दो कन्याओं को दीक्षित किया था। शेष दो पुत्र जो बचे थे सो उन्होंने भी कुछ दिनों बाद दीक्षा लेली थी। इस प्रकार भगवान् दूसरों से जो कार्य कराना चाहते थे, से उन्होंने स्वयं करके दिखा दिया।

दूसरों की आलोचना करना जितना सरल है, दूसरों की आलोचना का पात्र न बनने के लिए समुचित कार्य करना उतना ही कठिन है। आप लोग अगर अपने कुटुम्ब को पहले सुधारेंगे तो दूसरे बहुत-से लोग आपके बिना कहे—आपका अनुकरण करके ही सुधर जाएँगे। दूसरों से त्याग कराने से पहले आपको त्याग करना चाहिए।

आप लोग गुरुकुलों और विद्यालयों की प्रशंसा करते हैं, समय-समय पर उनके संचालन के लिए आर्थिक सहायता भी देते हैं; पर अगर आप सचमुच ही उन्हें कल्याणकारी समझते हैं तो उन संस्थाओं में अपने बालकों को प्रविष्ट क्यों नहीं कराते ? प्रायः गरीबों के ही बालक उन संस्थाओं में क्यों हैं ? अपने लड़कों को पढ़ाने के लिए आप दूसरी जगह भेजें और दूसरों के लड़कों के लिए इन्हें अच्छी बतावें, यह कौन-

सा न्याय है ? ऐसी स्थिति में यह संस्थाएँ अच्छी कैसे मानी जाएँगी और इन में पर्याप्त धन भी कहाँ से आयगा ?

भगवान् ने अपने ९८ पुत्रों को दीक्षा का माहात्म्य समझाया। भगवान् के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने जब अपने भाइयों से अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा, तब उन्होंने उत्तर दिया—पिताजी ने हमें आपका भाई बनाया है, दास नहीं बनाया। हम लोग आपके भाई बन कर रह सकते हैं। हम दास बन कर नहीं रह सकते।

आज गाँधीजी भी यही कहते हैं। उनका कथन भी यही है कि भारत, इंग्लैण्ड का मित्र बन कर रहेगा। वह इंग्लैण्ड का गुलाम बन कर नहीं रह सकता।

'भरत चौदह रत्नों के स्वामी थे। उन्हें अपने रत्नों का गर्व हुआ। वह कहने लगे—'मैं चक्रवर्त्ती हूँ। षट् खण्ड भरत क्षेत्र का अद्वितीय अधिपति हूँ। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र में ऐसी कोई भी सत्ता कायम नहीं रह सकती जो मेरी अधीनता स्वीकार न करे। जो मेरी आन (आज्ञा) न मानेगा, मैं उसे कुचल दूंगा।'

भरत ने अपने भाइयों के पास संदेश भेज दिया—या तो मेरी अधीनता स्वीकार करो या युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाओ। यह संदेश जब मिला तो ९८ भाइयों ने मिल कर परामर्श किया—इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए ? अन्त में उन्होंने निश्चय किया—अगर हम लोग रहेंगे तो स्वतन्त्र होकर ही रहेंगे, अन्यथा युद्ध करके अपनी बलि चढ़ा देंगे। हम भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं। भगवान् के पुत्र गुलाम होकर जीवित नहीं

रह सकते। हम गुलामी स्वीकार करके भगवान् के उज्ज्वल यश में कालिमा नहीं लगने देंगे। गुलामी अन्ततः गुलामी ही है, भले ही वह सगे भाई की ही क्यों न हो! पिताजी ने हमें स्वतन्त्र किया है अतएव हम स्वतन्त्र ही रहेंगे। परन्तु हमको तथा भरतजी को पिताजी ने राज्य दिया है। अतएव युद्ध करने से पहले, इस विषय में पिताजी से सम्मति ले लेना आवश्यक है। पिताजी का निर्णय हमारा अंतिम निर्णय होगा। अगर उन्होंने युद्ध करने की सम्मति दी तो हम लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर युद्ध में जूझ पड़ेंगे और उनके अनुग्रह से इन्द्र भी हमें पराजित नहीं कर सकेगा। कदाचित् उन्होंने भरतजी के अधीन होने की सलाह दी तो फिर सम्पूर्ण भाव से भरत जी की अधीनता स्वीकार कर लेनी होगी। पिताजी के निर्णय को हम लोग बिना किसी संकोच के, बिना ननु न च किये अंगीकार करेंगे।'

अट्ठानवे भाई इस प्रकार निर्णय करके पिता के पास गये। विशिष्ट ज्ञानी भगवान् पहले-से ही सब बातें जानते थे। जैसे ही यह लोग उनके पास पहुँचे, भगवान् ने कहा—तुम भरत द्वारा सताये गये हो! वास्तव में मैंने तुम्हें स्वतन्त्र ही किया है और स्वतन्त्र रहना ही क्षत्रिय का धर्म है। मगर सर्वश्रेष्ठ स्वतन्त्रता दूसरी ही वस्तु है। चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्राप्त कर लेने पर भी भरत को सन्तोष नहीं हुआ है, यह देख कर भी क्या तुम्हारी आँखें नहीं खुलीं? संसार के समस्त पदार्थों की प्राप्ति कदाचित् किसी को हो जाय तब भी सन्तोष के बिना शान्ति नहीं मिलती। इससे विपरीत सन्तोषवृत्ति जिसके अन्तःकरण में व्याप्त हो जाती है वह

अकिंचन् होने पर भी सुख का उपभोग करता है। असंतोष वह लपलपाती हुई ज्वाला है जिसमें घृत की आहुति देने से निरन्तर वृद्धि ही होती जाती है। अतएव तुम लोग स्थिर-चित्त होकर विचार करो।

अपने भाई भरत पर क्रुद्ध होना वृथा है। उस पर दया करके उसे सुधारो। भरत को राज्य के टुकड़े पर अभिमान आ गया है। उसने तुम्हें सताया है, यह अपराध उसका नहीं, वरन् उसमें अहंकार उत्पन्न कर देने वाले राज्य का है। यह राज्य ऐसे-ऐसे अनेक अपराधों और अवगुणों को उत्पन्न करता है। अगर तुम्हें इन अपराधों और अवगुणों से घृणा है तो तुम स्वयं राज्य की लालसा मत करो। तुम राज्य को तुच्छ समझो और मेरी शरण में आओ। मेरी शरण में आ जाने पर न तो तुम्हें भरत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी और न युद्ध ही करना पड़ेगा। इतना ही नहीं, तुम सब प्रकार की परतंत्रता से मुक्त हो जाओगे। सच्ची स्वाधीनता का यही एक मात्र राजमार्ग है। निस्पृह एवं निरपेक्ष भाव में ही स्वाधीनता है। जहाँ पर पदार्थों के साथ संबंध है, वहाँ पराधीनता अनिवार्य है। पराधीनता की बेड़ियों को काटने का उपाय है-आत्म-निर्भर बनना। तुम पर-पदार्थों के अधीन रहो-संसार की वस्तुओं को अपने सुख का साधन समझो और फिर पराधीनता से भी बचना चाहो, यह संभव नहीं है। पूर्ण स्वाधीनता पूर्ण स्वावलम्बन से ही आती है। अतएव अपनी मिथ्या धारणाओं को छोड़ो और मैं जिस पथ का अपने आचरण द्वारा प्रदर्शन कर रहा हूँ, उस पर चलो।

भगवान् का उपदेश सुनकर ९८ भाई मुनि बन गये। भरत

को जब अपने भाइयों के मुनि बन जाने का संवाद मिला तो वह मूर्छित होकर सिंहासन से गिर पड़ा। आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। वह भागा हुआ पिता के पास आया। जब उसने अपने भाइयों को मुनि के वेष में देखा तो वह काँप उठा। उसके संताप और पश्चात्ताप का पार न रहा। उसने कहा—भाइयो, मैं अपराधी हूँ। मैंने तुम्हारे ऊपर अत्याचार किया है। तुमने मेरे अत्याचार को विचित्र तरीके से सहन किया है। साम्राज्य की सुरा के मद में मत्त होकर मैंने तुम्हें घोर कष्ट पहुँचाया है। मैं इन चक्र आदि के चक्कर में फँस गया। चौदह रत्नों ने अपने ९८ भाइयों को भुला दिया! मुझे क्षमा का दान दो भाइयो, चक्रवर्त्ती भरत आज तुम्हारे समक्ष क्षमा का भिखारी बना है!

इस प्रकार भरत का अभिमान चूर-चूर हो गया। उसका गर्व गल गया। भरत के भाइयों ने भरत का गर्व किस प्रकार चकनाचूर कर दिया? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है—त्याग से। त्याग में अनन्त बल है; अमित सामर्थ्य है। जहाँ संसार के समस्त बल बेकार बन जाते हैं, अस्त्र-शस्त्र निकम्मे हो जाते हैं, वहाँ भी त्याग का बल अपनी अद्भुत और अमोघ शक्ति से कारगर होता है।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को जैनेन्द्री दीक्षा से दीक्षित किया। बाद में बाहुबली और भरत ने भी संयम धारण किया।

तात्पर्य यह है कि जिसे तुम कर्त्तव्य मानते हो, उसे केवल

मानते ही न रहो—बल्कि आचरण में उतारो। अपने कर्त्तव्य की भावना को व्यवहार में लाने की चेष्टा करो। श्रावक के तीन मनोरथों में दीक्षा धारण करने की भावना भी है। श्रावक प्रतिदिन कंचन-कामिनी का त्यागी, अकिंचन् अनगार बनने की अभिलाषा करता है। ऐसी स्थिति में यदि श्रावक के घर का कोई व्यक्ति दीक्षा धारण करता है तो क्या हानि है ? श्रावक को प्रसन्नतापूर्वक उसका अनुमोदन करना चाहिए और उसमें विघ्न-बाधा नहीं डालना चाहिए।

तीर्थंकर भगवान् का अनुसरण करके उनके कुटुम्बियों ने, स्नेही जनों ने, तथा अन्यान्य पुरुषों ने भी दीक्षा धारण की है। भरत ने जब दीक्षा धारण की, तब उनके अधीनस्थ अनेक राजाओं ने उनका चरण-अनुसरण किया। ऐसी स्थिति में धर्म का माहात्म्य और धर्म की जागृति क्यों न होती ?

× × × ×

आज निर्ग्रन्थवर्ग की स्थिति कुछ विषम-सी हो रही है। साधुसमाज और साध्वीसमाज में निरंकुशता फैलती जाती है। इसका कारण किस प्रकार के पुरुष और किस प्रकार की महिला को दीक्षा देनी चाहिए, इस बात का पूरी तरह विचार नहीं किया जाना रहा है। दीक्षा संबंधी नियमों का पालन बहुत कम हो रहा है। इस नियमहीनता का दुष्परिणाम यहाँ तक हुआ है कि अपनी सम्प्रदाय से भिन्न जैन सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के कारण मुक़द्दमेबाजी तक हो जाती है।

साधुसमाज के निरंकुश होने और साधुता के नियमों में शिथिलता आजाने के कारणों में से एक कारण है—साधुओं के

हाथ में समाज-सुधार का काम होना। आज सामाजिक लेख लिखने, वादविवाद करने और इस प्रकार समाज-सुधार करने का भार साधुओं पर डाल दिया गया है। समाज-सुधार करने का कार्य दूसरा कोई वर्ग अपने हाथ में नहीं ले रहा है। अतएव यह काम भी कई-एक साधुओं को अपने हाथ में लेना पड़ा है। इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में साधुओं द्वारा ऐसे-ऐसे काम हो जाते हैं जो साधुता के लिए शोभास्पद नहीं कहे जा सकते।

यदि समाज-सुधार का काम साधुवर्ग अपने ऊपर नहीं लेता तो समाज बिगड़ता है और जो समाज लौकिक व्यवहार में ही बिगड़ा हुआ होगा उसमें धर्म की स्थिरता किस प्रकार रह सकेगी! व्यवहार से गया-गुजरा समाज धर्म की मर्यादा को कैसे कायम रख सकेगा? इस दृष्टि से समाज-सुधार का प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं है।

साधुवर्ग पर जब समाज-सुधार का भार भी होगा तब उनके चारित्र्य की नियम-परम्परा में बाधा पहुँचने से चारित्र्य में न्यूनता आजाना स्वाभाविक है। इस प्रकार आज का साधुसमाज बड़ी विषम अवस्था में पड़ा हुआ है। एक ओर कुआँ, दूसरी ओर खाई-सी दिखाई पड़ती है।

समाज-सुधार का भार साधुओं पर पड़ने का परिमाण क्या हो सकता है, यह समझने के लिए यतिसमाज का उदाहरण मौजूद है। पहले का यति-समाज आज सरीखा नहीं था। लेकिन उसे समाज-सुधार का कार्य अपने हाथ में लेना पड़ा। इसका परिणाम धीरे-धीरे यह हुआ कि सामाजिकता की ओर अग्रसर होते-होते उनकी प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि वे स्वयं ही

पालकी आदि परिग्रह के धारक बन गये। यदि वर्त्तमान साधुओं को समाज-सुधार का भार सौंपा गया और उनमें सामाजिकता की वृद्धि हुई तो उनकी भी ऐसी ही—यतियों जैसी—दशा होना संभव है। अतएव साधु समाज के ऊपर समाज-सुधार का बोझ न होना ही उत्तम है। साधुओं का अपना एक अलग कार्यक्षेत्र है। उससे बाहर निकलकर भिन्न क्षेत्र में जाना योग्य नहीं है। उनका कार्य-क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत और महत्वपूर्ण है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसा कौन-सा उपाय है, जिस से समाज-सुधार का आवश्यक और उपयोगी काम भी हो सके और साधुओं को समाज-सुधार में पड़ना न पड़े ?

हमारे समाज में मुख्य दो वर्ग हैं—साधुवर्ग और श्रावक वर्ग। साधु वर्ग पर उक्त बोझ पड़ने से क्या हानियाँ हो सकती हैं, यह बात सामान्य रूप से मैं बतला चुका हूँ। रहा श्रावकवर्ग, सो इसी वर्ग को समाजसुधार की प्रवृत्ति करनी चाहिए। मगर हमारा श्रावकवर्ग दुनियादारी के पचड़ों में इतना अधिक फँसा रहता है और उसमें शिक्षा का भी इतना अभाव है कि वह समाज-सुधार की प्रवृत्ति को यथावत् संचालित नहीं कर सकता। श्रावकों में धर्म संबंधी ज्ञान भी इतना पर्याप्त नहीं है, जिससे वे धर्म का लक्ष्य रख कर, धर्ममर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रख कर, तदनुकूल समाज-सुधार कर सकें। कदाचित् कोई विद्वान् श्रावक मिलता भी है तो उसमें श्रावक के योग्य आदर्श चरित्र और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना पर्याप्त रूप में नहीं पाई जाती। वह गृहस्थी के पचड़ों में पड़ा हुआ होता है; अतएव उसकी

आवश्यकताएँ प्रायः अन्य सामान्य श्रावकों के समान ही होती हैं। ऐसी स्थिति में वह अर्थ के धरातल से ऊँचा नहीं उठ पाता और जो व्यक्ति अर्थ के धरातल से ऊपर नहीं उठा है, उसमें निस्पृह, निरपेक्ष भाव के साथ समाज-सुधार के आदर्श कार्य को करने की पूर्ण योग्यता नहीं आती। उसे अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए श्रीमानों की ओर ताकना पड़ता है, उनके समाज-हित-विरोधी कार्यों को सहन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त त्याग की मात्रा अधिक न होने से समाज में उसका पर्याप्त प्रभाव भी नहीं रहता। इस स्थिति में किस उपाय का अवलम्बन करना चाहिए जिससे समाज-सुधार के कार्य में रुकावट न आवे और साधुओं को भी इस कार्य से अलहदा रक्खा जा सके ? आज यही प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है और उसे हल करना अत्यावश्यक है।

मेरी सम्मति के अनुसार इस समस्या का हल ऐसे तीसरे वर्ग की स्थापना करने से ही हो सकता है, जो साधुओं और श्रावकों के मध्य का हो। यह वर्ग न तो साधुओं में ही परिगणित किया जाय और न गृह-कार्य करने वाले साधारण श्रावकों में हो। इस वर्ग में वे ही व्यक्ति समाविष्ट किये जावें जो ब्रह्मचर्य का अनिवार्य रूप से पालन करें और अकिंचन् हों अर्थात् अपने लिए धन का संग्रह न करें। वे लोग समाज की साक्षी से, धर्माचार्य के समक्ष इन दोनों व्रतों को ग्रहण करें। इस प्रकार के तीसरे त्यागी श्रावक-वर्ग से समाज-सुधार की समस्या भी हल हो जायगी और धर्म का भी विशेष प्रचार हो सकेगा। साथ ही निर्ग्रन्थ वर्ग भी दूषित होने से बच जायगा।

इस तीसरे वर्ग से समाज-सुधार के अतिरिक्त धर्म को क्या लाभ पहुँचेगा, यह बात संक्षेप में बतला देना आवश्यक है।

मान लीजिए कोई व्यक्ति धर्म के विषय में लिखित उत्तर चाहता है। साधु अपनी मर्यादा के विरुद्ध किसी को कुछ लिखकर नहीं दे सकता। अतएव ऐसी स्थिति में लिखित उत्तर न देने के कारण धर्म पर आक्षेप रह जाता है। अगर यह तीसरा वर्ग स्थापित कर लिया जाय तो वह लिखित उत्तर भी दे सकेगा।

इसी प्रकार अगर अमेरिका या अन्य किसी विदेश में सर्व-धर्म-सम्मेलन होता है; वहाँ सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे सम्मेलनों में मुनि सम्मिलित नहीं हो सकते; अतएव धर्म-प्रभावना का कार्य रुक पड़ता है। यह तीसरा वर्ग ऐसे-ऐसे अवसरों पर उपस्थित होकर जैनधर्म की वास्तविक उत्तमता का निरूपण करके धर्म की बहुत कुछ सेवा बजा सकता है। आजकल ऐसे सम्मेलनों में बहुधा जैन धर्म के प्रतिनिधि की अनुपस्थिति रहती है और इससे जैन धर्म के विषय में इतर सहानुभूतिशील व्यक्तियों में भी उतना उच्च विचार नहीं उत्पन्न हो पाता। वे जैनधर्म के गरिमा ज्ञान से वंचित रहते हैं। तीसरा वर्ग ऐसे सभी अवसरों पर उपयोगी होगा। इससे धर्म की प्रभावना होगी।

इसके अतिरिक्त और भी बहुतेरे कार्य हैं, जो सच्चे सेवा-भावी और त्याग-परायण तृतीय वर्ग की स्थापना से सरलता-पूर्वक सम्पन्न किये जा सकेंगे। जैसे साहित्य-प्रकाशन और शिक्षा आदि। आज यह सब कार्य व्यवस्थित रूप से नहीं हो रहे हैं।

इनमें व्यवस्था लाने के लिए भी तीसरे वर्ग की आवश्यकता है।

तीसरे वर्ग के होने से धार्मिक कार्यों में बड़ी सहायता मिलेगी। यह वर्ग न तो साधुपद की मर्यादा में ही बँधा रहेगा और न गृहस्थी के झंझटों में ही फँसा होगा। अतएव यह वर्ग धर्म-प्रचार में उसी प्रकार सहायता पहुँचा सकेगा जैसे चित प्रधान ने पहुँचाई थी। धर्म का बोध देने के लिए प्रदेशी राजा को केशी महाराज के पास लाने की आवश्यकता थी। अगर केशी महाराज स्वयं चित प्रधान से, घोड़े फिराने के बहाने से राजा को अपने पास लाने के लिए कहते तो उनकी साधुता किस प्रकार रह सकती थी? यद्यपि प्रदेशी राजा को धर्म का बोध देने की अत्यन्त आवश्यकता थी, फिर भी केशी महाराज ने चित प्रधान से यह नहीं कहा कि तुम राजा को मेरे पास ले आओ। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि अगर प्रदेशी राजा हमारे सन्मुख आवे तो हम उसे धर्म का उपदेश दे सकते हैं। इस स्थिति में तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता थी। राजा धर्म से सर्वथा पराङ्मुख था। उसे धर्मश्रवण की आकांक्षा नहीं थी। महाराज केशी अनगार निस्पृह थे और उसके पास जाकर धर्म का उपदेश देने में धर्म के महत्त्व में क्षति पहुँचती थी। ऐसा करने से राजा शायद मुनिराज के किसी प्रकार के स्वार्थ की कल्पना भी करता और तब उतना प्रभाव न पड़ता। इस स्थिति में तीसरे व्यक्ति से ही काम चल सकता था। तीसरा व्यक्ति चित प्रधान यहाँ उपस्थित होता है और वह राजा को मुनि की सेवा में उपस्थित करने का संकल्प करता है। चित प्रधान ने मुनिराज से कहा—'महाराज, राजा को धर्म का ज्ञान कराना अत्यावश्यक है। इससे बड़ा उपकार

होगा। मैं घोड़ा फिराने के बहाने उसे आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा।' मुनिराज ने चित से न तो ऐसा करने के लिए कहा और न ऐसा करने से उसे रोका ही। चित बीच का व्यक्ति था। वह राजा को मुनिराज के समीप ले आया और मुनिराज ने उसे धर्म का बोध देकर न केवल उसी का वरन् समस्त प्रजा का भी असीम उपकार किया। तात्पर्य यह है कि तीसरे वर्ग की स्थापना से ऐसे अनेक कार्य सम्पन्न हो सकेंगे, जो न साधुओं द्वारा होने चाहिए और न श्रावकों द्वारा हो सकते हैं।

तीसरे वर्ग के होने से एक लाभ और भी है। आज अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिनसे न तो साधुता का भलीभाँति पालन होता है और न साधुता का ढोंग ही छूटता है। वे साधु का वेष धारण किये हुए साधु की मर्यादा के भीतर नहीं रहते। तीसरे वर्ग की स्थापना से ऐसे व्यक्ति इस वर्ग में सम्मिलित हो सकेंगे और साधुत्व के ढोंग के पाप से बच जाएँगे। लोग असाधु को साधु समझने के दोष से बच सकेंगे।

तीसरे वर्ग की स्थापना से यद्यपि साधुओं की संख्या घटने की संभावना है और यह भी संभव है कि भविष्य में अनेक पुरुष साधु होने के बदले इसी वर्ग में प्रविष्ट हों, लेकिन इससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। साधुता की महत्ता संख्या की विपुलता में नहीं है, वरन् चारित्र्य की उच्चता और त्याग की गंभीरता में है। उच्च चारित्रवान् और सच्चे त्यागी मुनि अल्पसंख्यक हों तो भी वे साधु पद की गुरुता का संरक्षण कर सकेंगे। बहुसंख्यक शिथिलाचारी मुनि उस पद के गौरव को बढ़ाने के बदले

घटाएँगे ही। अतएव मध्यम वर्ग की स्थापना का परिणाम यह भी होगा कि जो पूर्ण त्यागी और पूर्ण विरक्त होंगे वही साधु बनेंगे और शेष लोग मध्यम वर्ग में सम्मिलित हो जाएँगे। इस प्रकार साधुओं की संख्या कदाचित् घटेगी तो भी उनकी महत्ता बढ़ेगी। जो लोग साधुता का पालन पूर्णरूपेण नहीं कर सकते या जिन लोगों के हृदय में साधु बनने की उत्कंठा नहीं है, वे लोग किसी कारण विशेष से, वेष धारण करके साधु का नाम धारण कर भी लें तो उनसे साधुता के कलंकित होने के अतिरिक्त और क्या लाभ हो सकता है ? इसलिए ऐसे लोगों का मध्यम वर्ग में रहना ही उपयोगी और श्रेयस्कर है। इन सब दृष्टियों से विचार करने पर समाज में तीसरे वर्ग की विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस समाज में करीब पाँच लाख जनसंख्या मानी जाती है। इनमें से बहुत से धनवान् हैं, बहुत से विद्वान् हैं, बहुत से लोकमान्य भी हैं। यदि समाज के सभी व्यक्ति एक ही सूत्र में संगठित हो जाएँ और भिन्न-भिन्न रूप में बिखरी हुई शक्ति एकत्र की जा सके तो समाज और धर्म का बड़ा उपकार हो। संगठित अवस्था में समाज बहुत-से उपयोगी और उन्नतिकारक कार्य कर सकता है। यद्यपि समाज में इस समय भी अनेक उपयोगी कार्य हो रहे हैं पर उनके पीछे संगठन का बल नहीं है। संगठन का बल न होने के कारण जैसी प्रगति होनी चाहिए वैसी नहीं हो रही है। बिना पूर्ण संगठन के कोई विशाल योजना कार्य में नहीं लाई जा सकती। बिखरी हुई छिन्न-भिन्न शक्ति के द्वारा साधारण कार्य ही हो सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षा-

संस्थाओं को लीजिए। समाज में अनेक शिक्षा-संस्थाएँ शिक्षा-प्रचार का कार्य कर रही हैं, मगर सब एक दूसरी से असंबद्ध हैं। किसी भी संस्था का सरी संस्था के साथ संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी भी संस्था को पूर्ण सहयोग नहीं मिल पाता। एक आदमी एक संस्था के लिए चंदा माँगता है तो दूसरा आदमी दूसरी संस्था के लिए। चंदा देने वाला किसे चंदा दे और किसे न दे? उसकी दृष्टि में सभी संस्थाएँ एक-सी हैं। वह नहीं जानता कि कौन-सी संस्था किस पैमाने पर क्या कार्य कर रही है? इसके अतिरिक्त एक संस्था, जो किसी के चंदे पर चल रही है वह, दूसरी संस्था के स्थापित होने पर, और अभी तक जो चंदा पहली संस्था को मिलता था वह दूसरी को मिलने लगने पर, बैठ जाती है। इस असमंजस को दूर करने के लिए अनुभवियों की यह योजना है कि समस्त शिक्षा-संस्थाएँ एक ही किसी तन्त्र द्वारा संचालित की जावें, सब के लिए सम्मिलित चंदा किया जावे और सब संस्थायें कार्य का बँटवारा कर लेवें। ऐसा करने से अनेक लाभ होंगे। कार्यकर्त्ताओं की शक्ति का सदुपयोग होगा, समाज पर व्यय का बोझ अपेक्षाकृत कम होगा, कार्य सुचारु रूप से होगा, चंदा देने वालों को झुंझलाहट न होगी और स्थापित होने के पश्चात् किसी भी संस्था के बंद होने का अवसर नहीं आएगा। अनुभव की कमी के कारण स्थानीय संस्थाओं के संचालकों को जो दिक्कतें आती हैं और व्यवस्था में जो त्रुटियाँ रह जाती हैं वे भी नहीं रहेंगी। शिक्षा-संस्थाओं का उल्लेख तो यहाँ उदाहरण के रूप में किया गया है। इसी प्रकार के और भी अनेक कार्य हैं जो संग-

ठन की अवस्था में सुचारु रूप से किये जा सकते हैं और असंगठित अवस्था में अव्यवस्थित रूप से हो रहे हैं। पर यह सब तभी हो सकता है जब समाज संगठित हो जाय।

आज स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस की कार्यकारिणी समिति का अधिवेशन होता है। इस अधिवेशन के संबंध में प्रकट की गई विज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि अधिवेशन में साधुसम्मेलन के संबंध में विचार होगा। साधुसम्मेलन के विषय में मैं अपने व्यक्तिगत कुछ विचार प्रकट कर देना चाहता हूँ।

मेरी स्पष्ट सम्मति यह है कि जब तक समस्त उपसम्प्रदायों के साधु अपने पृथक्-पृथक् शिष्य बनाना तथा पुस्तक आदि अपने-अपने अधिकार में रखना छोड़ कर एक ही आचार्य के अधीन न होंगे तथा अपने शिष्य और शास्त्र आदि पूर्ण रूप से उन आचार्य को न सौंप देंगे, तब तक संघ की कोई मर्यादा स्थिर रहना कठिन है। यह कार्य चाहे आज हो, चाहे कल हो या बहुत समय बाद हो, परन्तु जबतक ऐसा न हो जायगा तब तक संघ में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाली खराबियाँ दूर न होंगी। मुझे अपनी ओर से यह बात प्रसिद्ध करने में किञ्चित् भी संकोच नहीं है कि यदि उक्त रीति से समस्त संघ एक सूत्र में संगठित होता हो तथा शास्त्राज्ञा का पालन होता हो तो इसके लिए सर्वस्व समर्पण करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। हाँ, साधुता को मैंने अपने जीवन का प्राण समझ कर अंगीकार किया है, इसलिए उसे अगर कोई प्राण लेने का भय बतलाकर भी छुड़ाना चाहे तो भी मैं उसे नहीं छोड़ सकता। अलबत्ता

साधुता के अतिरिक्त और सब कुछ—उपाधि, शिष्य, शास्त्र आदि छोड़ने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि सब साधुओं की एक ही समाचारी हो, सब का एक ही आचार्य हो और उसी एक आचार्य की 'नेश्राय' में शिष्य तथा शास्त्र आदि रहें, तभी साधु-सम्मेलन सफल हो सकता है।

कदाचित् एक साथ इतना अग्रगामी कदम न उठाया जा सके—सब सम्प्रदाय एक न हो सकें, और प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने आचार्य की 'नेश्राय' में शास्त्र तथा शिष्य रख कर शुद्ध समाचारी बना लें तब भी साधु-सम्मेलन से कुछ लाभ उठाया जा सकता है। प्रथम इतना कार्य हो जाने पर फिर कभी संगठन की मर्यादा बढ़ाई जा केगी। मगर इतना भी अगर न हुआ तो साधु-सम्मेलन की सफलता संदिग्ध है।

श्रावकगण! श्रमणोत्तम भगवान् महावीर के संघ के अभ्युदय के लिए हम लोग अपनी प्रतिष्ठा—बड़प्पन त्यागने के लिए तैयार हैं, तो क्या आप लोग कुछ भी त्याग न कर सकेंगे? अगर आप लोग केवल तीन-तीन महीने का समय संघ के हेतु त्याग दें और वह समय ाधु-सम्मेलन की इस योजना को सफल बनाने में तथा एक समाचारी तैयार कराने में लगा देवें तो आपके इस अल्प त्याग से संघ का बहुत कल्याण होगा।

अपना समाज लौंकाशाह की समाचारी पर है। लौंकाशाह भी श्रावक ही थे। उनकी सताचारी के पन्ने अभी डूब नहीं गये हैं। वे अब भी विद्यमान हैं। उस समाचारी को निकलवा कर,

उसमें समयानुसार शास्त्रसंगत सुधार किया जावे और उस पर प्रधान-प्रधान मुनियों की सम्मति ली जाय। तत्पश्चात् सब की सम्मति से एक शास्त्रसम्मत समाचारी बना कर सब सन्तों से पूछ लिया जाय कि यह आपको स्वीकृत है या नहीं ? जो साधु उसे स्वीकार करें उन्हीं को अगर सम्मेलन में सम्मिलित किया जाय तो सम्मेलन को सफल बनाया जा सकेगा। जो साधु उसे स्वीकार न करें, उन्हें वृथा कष्ट देने से कोई लाभ न होगा।

ऐसा करने से यह भी प्रकट हो जायगा कि कौन-कौन सत साधु-सम्मेलन से सहमत हैं और कौन सहमत नहीं हैं ? यही नहीं, यह समाचारी, संगठन के लिए किये जाने वाले त्याग को कसौटी का काम देगी। इसके आधार पर सम्मेलन के भविष्य का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकेगा।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है। समाचारी के संबंध में मैंने जो कथन किया है उसका आशय यह नहीं है कि आज किसी सम्प्रदाय की समाचारी शुद्ध नहीं है। आज भी शुद्ध समाचारी का पालन करने वाले सम्प्रदाय हैं। हाँ, जिस सम्प्रदाय में जो त्रुटि हो उसे वह दूर कर देना चाहिए और सब सम्प्रदायों की समाचारी में एकरूपता लानी चाहिए। समाचारी में एकरूपता लाये बिना संगठन की भूमिका ही नहीं बनती।

मित्रो ! जब तक श्रावक, संघ के अभ्युदय के लिए त्याग का भाव प्रदर्शित नहीं करेंगे और जब तक सब सन्तों की समाचारी एक नहीं हो जायगी, तब तक ऐसी कोई विशाल और प्रगतिशील योजना पूरी तरह सफल नहीं हो सकती।

कागज पर लिखे हुए प्रस्तावों और निर्णयों के मोहजाल में फँसने से कुछ भी लाभ न होगा। आज तक न जाने कितने सुन्दर-सुन्दर प्रस्ताव विभिन्न सम्मेलनों और समाजों ने स्वीकृत करके अपनी फाइलों में रख छोड़े हैं। उन प्रस्तावों से जनता का कुछ लाभ नहीं हुआ। प्रस्ताव वही लाभदायक होते हैं जो ठोस बुनियाद पर स्वीकार किये जाते हैं और कार्य-परिणत किये जाते हैं। साधुसम्मेलन इस प्रकार की कार्यवाही का अपवाद बने, यह मेरी हार्दिक इच्छा है। ऐसा होने से ही संघ की उन्नति और आपका कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १०-१०-३१

बिगड़ी कौन सुधारे नाथ !

प्रार्थना

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी ॥
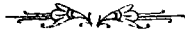
यह भगवान् मल्लिनाथ की प्रार्थना की गई है। परमात्मा की प्रार्थना जीवन के उच्च होने की डोरी है। प्रार्थना से आत्मा ऊर्ध्वगामी बनता है। प्रार्थना करने वाला और जिसकी प्रार्थना की जाय वह, कैसे हों, इसमें मतभेद हो सकता है। यों तो प्रत्येक आस्तिक किसी न किसी रूप में परमात्मा की प्रार्थना करता है और प्रार्थना द्वारा आत्मा को ऊपर चढ़ाने की इच्छा

रखता है, परन्तु सब प्रकार की प्रार्थनाओं में विशेष प्रार्थना कौन-सी है, यह विचारणीय बात है।

आर्य देश के निवासियों द्वारा की जाने वाली परमात्मा की प्रार्थना में और आर्य देश से बाहर वालों की प्रार्थना में बहुत अन्तर है। वह अन्तर इतना अधिक है जितना आकाश और पृथ्वी में है। आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना में गुलामी का भाव भरा रहता है। वे समझते हैं कि ईश्वर एक व्यक्ति-विशेष है और हम सब उसके अधीनस्थ जीव हैं। हम अपनी सहायता करने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं। जैसे राजा के सामने किसी चीज की याचना करने से राजा सहायता देता है, उसी प्रकार ईश्वर हम से बड़ा है, हम उसकी प्रार्थना करेंगे तो वह हमारी कुछ मदद करेगा।

आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना की मूल दृष्टि यह है। जब इंग्लैण्ड और जर्मनी में युद्ध चला था तब बादशाह तथा अन्य ईसाई लोग गिर्जाघर में जाकर प्रार्थना करते थे। वह प्रार्थना क्या थी ? बस, यही कि-'हे परमात्मा, जर्मनी को हरा दे और हमें विजय दे।' मगर यह बात विचारणीय है कि परमात्मा ऐसा क्यों करेगा ? क्या वह इंग्लैंड का ही है ? जर्मन प्रजा क्या उसकी प्रजा नहीं है ? इसके सिवा जैसे इंग्लैंड में परमात्मा से अपनी विजय की और जर्मनी के पराजय की प्रार्थना की जाती है, उसी प्रकार जर्मनी में भी तो अपनी विजय और शत्रु के पराजय की प्रार्थना की जाती है ! ऐसी दशा में तुम्हीं सोचो कि परमात्मा किसकी प्रार्थना स्वीकार करे और किसकी अस्वीकार

करे ? वह कहाँ जाए ? किसे जय दिलावे और किसे पराजय दिलावे ? ईश्वर के लिए तो दोनों देश समान हैं। अगर यह ख़याल किया जाता हो कि ईश्वर तुम्हारा ही है, वह शत्रु-देश का नहीं है, तब तो तुम ईश्वर के ईश्वरत्व में ही बट्टा लगाते हो। इस मान्यता से ईश्वर का ईश्वरत्व छिन जाता है। फिर या तो कोई ईश्वर न ठहर सकेगा या अलग-अलग देशों के अलग-अलग ईश्वर मान लेने पड़ेंगे।

फिर भी यह बीमारी इतने से ही शान्त न होगी। जब किसी एक ही देश के दो प्रान्तों में झगड़ा खड़ा होगा तब प्रान्त-प्रान्त का ईश्वर भी अलग-अलग हो जाएगा। इस प्रकार ईश्वर की अनेकता का रोग फैलते-फैलते व्यक्तियों तक पहुँचेगा और एक-एक व्यक्ति का ईश्वर भी अलग-अलग कल्पित करना पड़ेगा। अब सोचना चाहिए कि ऐसा ईश्वर क्या दरअसल ईश्वर कहलाएगा ? लोगों में आपस में लड़ने की पाशविक वृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि वे अपने साथ अपने भगवान् को भी अछूता नहीं छोड़ना चाहते। ईश्वर को भी लड़ाई में शामिल करना चाहते हैं ! अगर उनका वश चले तो वे सांड़ों की तरह अपने-अपने भगवान् को लड़ा-भिड़ा कर तमाशा देखें और अपनी पशुता प्रदर्शित करें। पर उनसे ऐसा करते नहीं बनता। इस कारण परमात्मा से अपनी विजय और शत्रु की पराजय की प्रार्थना करके ही संतोष मान लेते हैं।

लेकिन इस संबंध में आज कुछ नहीं कहना है। हम तो यहाँ सिर्फ प्रार्थना के मूल में रही हुई भावना की ही आलोचना करना चाहते हैं। उक्त कथन से यह स्पष्ट रूप से समझा जा

सकता है कि आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना में बड़ा बेढंगापन है। उनके द्वारा की जाने वाली प्रार्थना की जड़ में गुलामी का भाव भरा हुआ है। उनके समीप ईश्वर के लिए भी समानता का सिद्धान्त नहीं है। वे ईश्वर को भी समभावी के रूप में नहीं देखना चाहते।

वास्तव में आत्मा और ईश्वर एक ही है। केवल प्रकृति के भेद से और कर्म की उपाधि से आत्मा और परमात्मा में अन्तर दिखाई देता है। लोगों ने भ्रम और अज्ञान के वश होकर ईश्वर को व्यक्ति-विशेष के रूप में कल्पित कर लिया है। वास्तव में ईश्वर कोई स्वतंत्र व्यक्ति-रूप सत्ता नहीं है; वह आत्मा की शुद्ध और स्वाभाविक अवस्था है और उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है। ईश्वर कहता है—कर्म का नाश करो। कर्म का नाश करने से मैं और तू एक हैं। आज जो प्राणी संसारी है, कर्मों से लिप्त होने के कारण शरीरधारी है और अनेक प्रकार के कष्ट उठा रहा है, वह कुछ दिन बीतने पर कर्मों का सर्वथा क्षीण करके, अशरीर बन कर परमात्मा हो जाता है। परमात्मा या सिद्ध कोई भिन्न व्यक्ति नहीं है।

परमात्मा का यही आदेश है—'मुझ में और तुझमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो कुछ भी अन्तर आज दृष्टिगोचर होता है, वह सब औपाधिक है, आगन्तुक है और एक दिन वह मिट जायगा। इस औपाधिक अन्तर को हटा दे, मैं और तू एक हो जाएँगे।'

× × × ×

संसार में अनेक प्रकार की क्रान्तियाँ हुई हैं और हो रही हैं। किसी ने क्रान्ति के द्वारा साम्य पैदा किया है, किसी ने स्वतंत्रता प्राप्त की है। लेकिन क्रान्ति द्वारा बन्धुता किसी ने पैदा नहीं की। बन्धुता पैदा करने का काम भारतवर्ष के हिस्से में आया है। यद्यपि यह बात सर्वसाधारण को समझाने की आवश्यकता है, फिर भी अगर गंभीरता से विचार किया जाय तो मालूम होता है कि जैनधर्म का अन्तिम उद्देश्य, प्रधान सिद्धान्त बन्धुता प्रकट करना है। जैनधर्म में जिस आचार-प्रणालिका का प्रतिपादन किया गया है, उसके अन्तरङ्ग की परीक्षा करने से यह बात निर्विवाद हो जाती है। वास्तव में जैन-धर्म बन्धुता की शिक्षा देने और उसका प्रचार करने के लिए है।

संसार के सभी मनुष्य समान होकर रहें, इस प्रकार का साम्यवाद कभी समस्त संसार में फैल सकता है; लेकिन उस समानता के भीतर जब तक बन्धुता न होगी तब तक उसकी नींव बालू पर खड़ी हुई ही समझना चाहिये। वायु के एक झकोरे से ही साम्यवाद की नींव हिल जायगी और उसके आधार पर निर्मित की हुई इमारत धूल में मिल जायगी। साम्य के सिद्धान्त को अगर सजीव बनाया जा सकता है तो केवल उसमें बन्धुता की भावना का सम्मिश्रण करके ही। यही नहीं बन्धुताहीन साम्यवाद विनाश का कारण बन जाता है। इसके लिए रूस का उदाहरण मौजूद है। रूस ने अपने साम्यवाद के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या की है। जो भी देश रूस की तरह कोरा साम्यवाद अपनाने जायगा और बन्धुता को उससे पहले ही नहीं अपना लेगा, वह अशान्ति का बीजारोपण ही करेगा।

बन्धुता किसी ज्ञानी के भाव से ही प्रकट हो सकती है। ज्ञानी जन कहते हैं कि सुख, दुःख या दबाव से किसी काम को मत करो; किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट करो। आध्यात्मिक शक्ति में इतना सामर्थ्य और चमत्कार है कि वह दूसरों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें तुरंत अपने वश में कर लेगी।

उदाहरण के लिए चण्डकौशिक को लीजिए। चण्डकौशिक को बुरा कहने वाले, उससे लड़ने वाले, बहुत थे; बहुत-से लोग उसे मार कर 'समता' स्थापित करना चाहते थे, पर बन्धुता के बिना ऐसा नहीं हो सका। 'समता' के लिए हिंसात्मक भावों से लड़ने वाला यदि निर्बल हो और प्रतिपक्षी सबल हो, तो वह लड़ने वाला मारा जाता है। चण्डकौशिक को कई लोग मारने गये, लेकिन वे खुद ही मारे गये। जो चण्डकौशिक इतना प्रबल था, जिसे कोई जीत नहीं सकता था, उसी चण्डकौशिक को बन्धुता की प्रबल भावना से परिपूर्ण भगवान् महावीर स्वामी ने अनायास ही जीत लिया।

तात्पर्य यह है कि जगत् में शान्ति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मग बन्धुता के बिना शान्ति-स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो मारकाट और अशान्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

आज अपने आपको 'जैन' कहने और कहलाने वाले लोग भले ही संख्या में कम हों, लेकिन भगवान् माहावीर का बन्धुता का सिद्धान्त समस्त संसार में आदर्श माना जाता है। मानव-

समाज ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध व्यवहार करके जो बुरे परिणाम भुगते हैं और आजकल भी भुगत रहा है, उन्होंने बन्धुता की भावना की आवश्यकता सिद्ध कर दी है और अब प्रत्येक राष्ट्र उसे प्राप्त करने में गौरव समझता है, भले ही वह उसे प्राप्त करने में अपनी लाचारी अनुभव करता हो।

× × × ×

हमारे यहाँ गांधीजी भगवान् के इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने की प्रबल चेष्टा कर रहे हैं। यही कारण है कि जैसे प्राचीन भारतीय महापुरुषों की जयन्ती मनाई जाती है, उसी प्रकार उनकी भी जयन्ती मनाई जाने लगी है। गांधीजी का जन्मदिवस सम्पूर्ण भारतवर्ष में क्यों मनाया जाता है, यह एक विचार करने योग्य विषय है। उनका जन्म काठियावाड़ प्रान्त में हुआ था, सो दूसरे प्रान्त वालों को क्या प्रयोजन है जो वे उनका जन्मदिन मनाते और उस दिन प्रसन्नता का अनुभव करते हैं ?

इसका कारण यह है कि अब तक जिधर देखो उधर ही हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था। फ्रांस की स्वतंत्रता और रूस की बन्धुताहीन समता ने भी मारकाट मचाई थी। [आज भी यूरोप भर में और यूरोप की बदौलत समस्त संसार में हिंसा का नंगा नाच हो रहा है। हिंसा के द्वारा फ्रांस ने जो स्वाधीनता प्राप्त की थी वह हिंसा के ही द्वारा छिन गई है और बन्धुता की भावना के अभाव में रूस की नैया भी डँवाडोल हो रही है। —संपादक] लेकिन बन्धुता के सिद्धान्त को—अहिंसा की दिव्य शक्ति को, आज भी गांधीजी दावे के साथ जगत् के समक्ष उप-

स्थित कर रहे हैं। भारत में अहिंसात्मक क्रान्ति करके गांधीजी ने लोगों के इस विश्वास को भंग कर दिया है कि अहिंसा द्वारा क्रान्ति होना असंभव है।

यद्यपि यह सिद्धान्त नवीन नहीं है और शायद कभी किसी अभूतपूर्व सिद्धान्त का आविष्कार होता भी नहीं है; भगवान् महावीर ने न केवल अपनी दिव्यध्वनि से वरन् अपने जीवन-व्यवहार से भी अहिंसा का उपदेश दिया था; परन्तु शास्त्रों की बातें तब तक मालूम नहीं होतीं जब तक कि स्वार्थ छोड़कर और संसार का सेवक बनकर उन्हें बताने के लिए कोई धीर-वीर पुरुष खड़ा नहीं होता। जब स्वार्थ और अभिमान आदि दोषों को त्याग कर अहिंसा का झंडा लेकर कोई खड़ा हो जाता है तभी अहिंसा की अद्भुत शक्ति का पता लगता है और तभी बन्धुता का प्रचार किया जा सकता है। गांधीजी यही कर रहे हैं, इसीलिए उनका जन्मदिन इतने हर्ष एवं उत्साह से मनाया जा रहा है!

मैंने एक दिन कहा था कि साधारणतया लोगों ने जीवों को न मारने में ही अहिंसा मान रक्खी है और इतने में ही अहिंसा की समाप्ति मान ली है। मगर हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है। हिंसा का अभाव अहिंसा का सिर्फ एक रूप है। 'अहिंसा' शब्द निषेधवाचक है। मगर इस निषेध में विधि का सर्वथा अभाव नहीं समझना चाहिए। अहिंसा के दो अर्थ होते हैं—एक सादृश्य अर्थ और दूसरा विरोध अर्थ। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इसे यों कहना चाहिए कि अहिंसा शब्द में नञ् समास है। नञ् समास दो प्रकार का होता है—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास

नञ् समास सदृश्य का ग्राहक होता है। जैसे किसी ने कहा—'मैं अब्राह्मण हूँ।' इस कथन का अर्थ यह हुआ कि मैं ब्राह्मण नहीं वरन् क्षत्रिय, वैश्य या और कोई हूँ। इस प्रकार यहाँ ब्राह्मणत्व के निषेध के साथ किसी का विधान भी होता ही है। दूसरा नञ् समास प्रसज्य है, जो निषेध की मुख्यता लेकर अर्थ का प्रतिपादन करता है।

तात्पर्य यह है कि 'अहिंसा' शब्द को लोगों ने हिंसा के अभाव-अर्थ में तो समझ लिया है मगर उससे जो विधि-अर्थ निकलता है उसकी ओर बहुत कम लक्ष्य दिया जाता है। अहिंसा का विधि-अर्थ है—मैत्री, बन्धुता, सर्वभूत-प्रेम। जिसने मैत्री या बन्धुता की भावना जागृत नहीं की है उसके हृदय में अहिंसा का सर्वांगीण विकास नहीं हुआ है। अहिंसा के इस विधि-अर्थ को आराधन करते हुए हिंसा का विरोध करना भी अहिंसा है। चाहे प्राण जावें लेकिन हिंसा का विरोध करे। हाँ, हिंसक का विरोध न करे। यदि हिंसक का विरोध किया, तब तो प्रतिहिंसा हो जायगी, जो हिंसा ही है। सच्चा अहिंसक, अहिंसा के लिए हिंसा करना स्वीकार नहीं कर सकता।

यदि जीव को न मारना ही अहिंसा होती तो भगवान् महावीर चण्डकौशिक सर्प से युद्ध क्यों करते ? उन्होंने यह क्यों नहीं सोचा कि—अगर संसार मरता है तो हम चण्डकौशिक से युद्ध क्यों करें ? मैं स्वयं तो किसी जीव को मारता नहीं, और न-मारने में ही अहिंसा की परिसमाप्ति हो जाती है, फिर मुझे चण्डकौशिक से युद्ध करने का क्या प्रयोजन है ? लेकिन

वास्तविक बात यह है कि न-मारने में ही अहिंसा की इतिश्री नहीं होती। ऐसा होता तो हम लोग भगवान् के लिए यह क्यों गाते—

बिगड़ी कौन सुधारे नाथ बिन ॥ बिगड़ी॰ ॥
साधु सरोषी हुआ चण्डकोशी, पन्नग महा दुखदाई रे।
डंक दिया जब प्रभु प्रतिबोध्यो, दियो स्वर्ग सुखदाई रे ॥
बिगड़ी कौन सुधारे॰ ॥

हे प्रभो! तेरे सिवाय बिगड़ी को सुधारने वाला और कौन है? साधु ने तो यह बिगाड़ किया कि उसे क्रोध आया। इस क्रोध के कारण वह सांप बना। इस बिगड़ी बात को बिगाड़ने वाले—लाठी मार कर और क्रोध पैदा कराने वाले—तो बहुत थे, लेकिन सुधारने वाला आपके सिवाय और कौन था?

संसार में रात-दिन यही होता दिखाई देता है कि बिगड़ी बात को और बिगाड़ने वाले बहुतेरे होते हैं। गाली के बदले गाली देने वाले कम नहीं हैं। लोग यह नहीं सोचते कि गाली तो स्वयं बिगड़ी हुई है, फिर भी हम उसे गाली देकर सुधार क्या करते हैं? गाली देने से तो पहले गाली देने वाले का अन्तःकरण और जलता है और वह आग आज नहीं तो कल निकलेगी ही। उससे नया वैर ही बँधेगा। सुधार नहीं होगा।

सुधार तो सभी चाहते हैं, लेकिन सुधार के मार्ग भिन्न-भिन्न मान लिए गये हैं। एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के मार्ग अनेक हो सकते हैं; परन्तु जो मार्ग लक्ष्य के प्रतिकूल है, उसे अपनाना बुद्धिमत्ता का काम नहीं कहला सकता। सुधार के विषय में यही बात है। कोई-कोई मारपीट कर सुधार करना चाहते

हैं; जैसे क्रांतिकारी दल के भाई हिंसा द्वारा भारत को स्वतन्त्र करके उसकी स्थिति का सुधार करना चाहते हैं। लेकिन यह मार्ग भूल से भरा है। हाँ, संसार को सताने वाले लोग चण्डकौशिक के समान अवश्य हैं, लेकिन उन बिगड़े हुओं को बम या रिवाल्वर के बल पर सुधारने की इच्छा रखना तो बिगड़ी को और बिगाड़ना है। बिगड़ी को सुधारने का उपाय वही है जो भगवान् ने चण्डकौशिक की बिगड़ी को सुधारने के लिए किया है।

भगवान् महावीर की भक्ति बिगड़ी को और-बिगाड़ने के लिए नहीं है। उनकी प्रार्थना इसलिये नहीं है कि दूसरे का पराजय हो और हमारी विजय हो। भगवान् की प्रार्थना बिगड़ी को सुधारने के लिए है।

कोई आदमी कितना भी बुरा क्यों न हो, फिर भी वह चण्डकौशिक सर्प सरीखा तो नहीं होगा। भगवान् ने उस बिगड़े हुए को सुधारने के लिए बन्धुता प्रकट की थी। अतएव मार-पीट कर बिगड़ी को सुधारने के लिए बिगड़ी का मार्ग अपनाना और उससे सुधार की आशा करना एकान्त भूल है। सुधार का जो मार्ग भगवान् ने अपने जीवन-व्यवहार द्वारा प्रकाशित किया है, वही सुधार का राजमार्ग है।

कहाँ तो भगवान् महावीर का जगतारक और इंद्रपूजित शरीर और कहाँ चण्डकौशिक जैसे पापी के दांत ? फिर भी भगवान् ने अपने परमकल्याणकारी शरीर पर उससे डंक लगवा कर बन्धुता प्रकट की और उस बिगड़े हुए को सुधार दिया। उसे उन्होंने अधोगामी से ऊर्ध्वगामी बना दिया। अन्धकार से

प्रकाश में लाकर खड़ा कर दिया। उसके कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया। बुराई का सदा के लिए अन्त कर दिया।

आज गांधीजी का जो जन्म-दिन मनाया जा रहा है, सो उनके शरीर के कारण नहीं। उनका शरीर केवल हाड़ों की एक गठड़ी-सा है। वह बहुत खूबसूरत भी नहीं है और मोटा-ताजा भी नहीं है। ऐसे शरीर पर आभूषण पहनना तो दूर रहा, पूरे वस्त्र भी धारण किये हुए नहीं हैं। मोटे से कपड़े की एक लंगोटी शरीर के कुछ हिस्से को ढँके हुए है। ऐसा होने पर भी उनकी जन्मतिथि क्यों मनाई जा रही है? इस पर एकाग्र होकर विचार करो।

जिस पुरुष की जन्म-तिथि मनाई जाती हो, उसके जीवन के सिद्धान्तों का सर्व साधारण में प्रचार किया जाय, उसके जगत्कल्याणकारी आदर्शों को प्रस्तुत किया जाय, उसके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट करके उसके गुणों के प्रति आदर व्यक्त किया जाय, तभी उसकी जयन्ती मनाने का उद्देश्य सफल होता है और वही उसकी सच्ची जयन्ती है। पर आज जयन्ती मनाने में भी गलती हो रही है। कृष्णजन्माष्टमी, महावीर-जयन्ती, शिवरात्रि आदि मनाने में हजारों रुपयों का पानी किया जाता है। ऐसा करने से गरीबों और दुखियों को क्या लाभ होता है? इससे उनका दुःख बढ़ता है या घटता है? भगवान् के जन्म के समय इन्द्र ने जो उत्सव किया था, वह उत्सव उसने भगवान् के रूप या आकृति आदि के कारण नहीं किया था, किन्तु भगवान् जिन कार्यों को भविष्य में करने वाले थे, उन कार्यों को

इन्द्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा जानकर उत्सव किया था। हम लोग भविष्य नहीं जानते, लेकिन जिन कार्यों के करने से हम भगवान् को मानते-पूजते हैं, उन कार्यों को तो जानते हैं ? तो जिन कार्यों के करने से हम भगवान् की जयन्ती मनाते हैं, उन्हीं कार्यों को करना, भगवान् के आदर्श चरण-चिह्नों पर चलना, यही उनकी सच्ची जयन्ती मनाना है।

गांधीजी को चर्खा, तकली और खादी प्रिय है, इसलिए आज उनकी जन्मतिथि मनाने वाले चर्खा और तकली चलावेंगे और खादी पहनने का व्रत ग्रहण करेंगे। आप लोग भगवान् महावीर की जयन्ती क्या जरी के कपड़े पहन कर मनाएँगे ? याद रक्खो, अगर आपने ऐसा किया तो समझना कि अभी आपने महावीर को पहचाना ही नहीं है। भगवान् महावीर का जन्मोत्सव वही मना सकता है जो दयालु हो और संयम जिसे प्रिय हो। अब ऐयाशी के दिन नहीं हैं। मौज-मजे उड़ाने के दिन लद गये हैं। इसलिए सादगी धारण करो। विलासिता को तिलांजलि दो और ऐसा व्यवहार करो, जिससे तुम्हारा और साथ ही दूसरों का कल्याण हो।

कृष्णजी ने सादगी की चरम सीमा कर दी थी। वे घोंघी ओढ़ते थे। कवि विहारीलाल ने कहा है:—

मोर मुकुट कटि काछनी, उर गुंजन को माल।
या बानक मो उर बसो, सदा विहारीलाल॥

कवि कहता है—मोर के पंखों का मुकुट धारण करने वाली, जिसकी कमर में काछनी लगी हुई है और गले में चिरमी

(गुंजा फल) की माला पड़ी हुई है, ऐसी छवि मेरे हृदय में वास करे।

कृष्णजी की महिमा इसी वेष से हुई है, हीरा-मोती पहनने से नहीं। उस लंगोटे वाले की महिमा गहनों और कपड़ों से नहीं किन्तु सादगी को अपनाने के कारण ही बढ़ी है। कपड़े और गहने पहन कर, इत्र लगा कर नाचना, गाना और जन्मोत्सव मनाना, उसका अपमान करना है। ऐसा करना जन्मतिथि मनाना नहीं कहला सकता; वरन् अपनी विलासवृत्ति को चरितार्थ करने का नूतन और शिष्ट तरीका ही कहलाएगा।

मोहन की जिस छवि का वर्णन कविवर बिहारीलाल ने किया है, लगभग वही छवि आज काठियावाड़ी मोहन ने अपना ली है। उस मोहन की ही तरह यह मोहन भी लंगोटाबाज है। इसे भी सादगी पसन्द है और वह उसके जीवन में ओत-प्रोत भी होगई है। यह भी कसौटी पर कसा जा रहा है और संसार के कल्याण के लिए आकाश-पाताल एक कर रहा है। विश्वहित और विश्वबन्धुत्व की पवित्र भावना से वह बेचैन है और जगत् को सन्मार्ग दिखलाने के लिए व्यग्र हो रहा है। उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए न जाने कितनी यातनाएँ सहन की हैं, कितनी व्यथाएँ भोगी हैं; फिर भी वह अपने लक्ष्य पर हिमालय की भाँति अचल है। संसार की कोई भी शक्ति उसे अपने लक्ष्य से विमुख नहीं कर सकती। उसके अन्त:करण में जो शीतलता है उससे तोपें ठंडी पड़ जाती हैं। ऐसी उसकी अनोखी शक्ति है। इसी कारण तो उसकी जयन्ती मनाई जा रही है।

भगवान् महावीर का वेष तो और भी बढ़कर था। उनके शरीर पर सूत का एक तार तक नहीं था। उनका त्याग जगत् में अद्वितीय था। आप कहेंगे, क्या हम लोगों को भी नग्न रहना चाहिए ? इसका उत्तर है—अवश्य; मगर तब, जब चण्डकौशिक जैसे-से भिड़ने और बन्धुत्व का भाव प्रकट करने की शक्ति आजाए। जब तक इतनी शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है, जब तक शरीर के प्रति ममता बनी हुई है, स्त्रियों के सहवास में रहते हो, स्वादिष्ट और गरिष्ठ भोजन करते हो, तब तक सादे वस्त्र पहन कर परमात्मा की भक्ति करना अनुचित नहीं है, किन्तु उचित ही है।

भगवान् महावीर स्वयं चल कर चण्डकौशिक की बाँबी पर गये थे। भगवान् को उस ओर जाते देख कर लोग भयभीत हुए। उन्होंने भगवान् को रोका। वे कहने लगे—प्रभो ! इधर न जाइए। चण्डकौशिक आपके इस उत्तम शरीर को नष्ट कर देगा। यह शरीर इस प्रकार नष्ट होने योग्य नहीं है। चण्डकौशिक साधारण विषैला साँप नहीं है। उसका काटना तो दूर, उसके देखने की भी दवा दुनिया में नहीं है।

लोगों का यह प्रतिरोध सुन कर महावीर हँसे। उन्होंने सोचा—इन्द्र ने मेरी जो महिमा की है, उस महिमा को चण्डकौशिक ही प्रसिद्ध, प्रकाशित और सार्थक करेगा।

अन्त में भगवान् चण्डकौशिक की बाँबी पर पहुँचे और चण्डकौशिक ने डंक मार दिया।

किसी को यह आशंका हो सकती है कि चण्डकौशिक द्वारा डँसे जाने से पहले ही भगवान् ने उसे उपदेश क्यों नहीं दिया ?

भगवान् ने उसे रक्तबिन्दु चखा कर उपदेश क्यों दिया ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् के रक्त में स्वच्छता तथा मधुरता तो थी ही, साथ ही उसमें वर्ण, रस और गंध में उत्तम महाशुक्ल लेश्या भी थी। रक्त के साथ वह शुक्ल लेश्या भी चण्डकौशिक के शरीर में घुसी। चण्डकौशिक में महा खराब लेश्या थी। उस महा खराब और महाशुक्ल लेश्या का परस्पर युद्ध हुआ। जैसे बावन चन्दन और दाह ज्वर में लड़ाई होती है और बावन चन्दन दाह ज्वर वाले के शरीर को शीतल कर देता है, उसी प्रकार भगवान् ने अपना रक्त चखा कर चण्डकौशिक को शीतल कर दिया।

चण्डकौशिक में जब शीतलता आई तो वह भगवान् की ओर देखने लगा। उसने सोचा—'यह अद्भुत प्रभावशाली मूर्त्ति कौन है ? जान पड़ता है, जैसे यह मेरे परिचित हैं।' इस प्रकार सोचता-विचारता चण्डकौशिक आश्चर्य में पड़ गया।

तदन्तर जब चण्डकौशिक की और भगवान् की दृष्टि मिली, तब भगवान् ने शान्ति और प्रेम के साथ कहा—'चण्डकौशिक ! समझ, बोध प्राप्त कर और मुझ-सा बन जा।'

मित्रो ! इस साम्य का विचार करो ! यह कैसी समानता है ? इस समानता में कैसी बन्धुता भरी हुई है ! धन्य हैं जगत्-बन्धु महावीर !

चण्डकौशिक इस समय तो स्वर्ग में गया, लेकिन भवान्तर में वह भगवान् के समीप पहुँच जायगा।

परमात्मा की प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए, जिससे बिगड़ी

हुई सुधर जाय। आप लोग भी अपनी बिगड़ी हुई को इसी प्रकार सुधारो, जैसे भगवान् ने चण्डकौशिक की बिगड़ी हुई सुधार दी थी। आप भी भगवान् की तरह सहना सीखो। अपनी शीतल लेश्या से दूसरे की उष्ण लेश्या को जीत लो। फिर साँप भी तुम्हारे पैरों में पड़ेंगे।

बिगड़ी को सुधारने का प्रताप अगर देखना चाहते हो तो प्रत्यक्ष देख लो। इसी के प्रताप से गांधीजी ने * अंग्रेजों के मुल्क में बैठकर कहा है कि यदि भारतवर्ष को पूरे अधिकार नहीं दिये जाएँगे, तो मैं नागरिक बनकर नहीं रहूँगा, किन्तु सरकार का विद्रोही बनकर रहूँगा।

गांधीजी अंग्रेजी साम्राज्य के विद्रोही बनकर रहने की खुल्लम-खुल्ला घोषणा करते हैं, फिर भी उसी साम्राज्य की भारतीय राजधानी में आज गांधीजी की जन्मतिथि मनाई जा रही है। यह सब अहिंसा की ही शक्ति है—बन्धुत्व का चमत्कार है। अहिंसा में अपरिमित शक्ति विद्यमान है। जो जितनी उसकी उपासना करेगा—अहिंसा के जितने अंशों को अपने जीवन में अवतीर्ण करेगा, उसे उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। मगर बहुत-से लोग अहिंसा की शक्ति पर भरोसा नहीं करते और हिंसा का बदला हिंसा से ही लेने का विचार रखते हैं, यही खराबी है। चण्डकौशिक से बदला तो भगवान् ने भी लिया था, पर बिगड़ी को बिगाड़ कर नहीं, बल्कि सुधार करके लिया था। भगवान् ने उससे ऐसा बदला लिया कि वह स्वयं कहने लगा—अब मैं

* गोलमेज कॉन्फरेंस के अवसर पर इंग्लैण्ड में।

अपना मुँह बाहर न रक्खूंगा। ऐसा करने से किसी को मेरी आँखों का जहर न चढ़ेगा! अन्त में उसने अपनी बाँबी के भीतर ही संथारा कर लिया!

मित्रो! क्या आप लोग साँप की इस भावना को भी न पहुँचोगे? यदि न पहुँचोगे तो फिर शान्ति का समय कब आयगा? फिर आपको किस भव में यह धर्म और ऐसे धर्मगुरु मिलेंगे? इसलिए बिगड़ी को बिगाड़ो मत, सुधारो और इस प्रकार सुधारो जिससे फिर बिगड़ने का अवसर ही न आवे। इसी में आपका और जगत् का कल्याण है।

महावीर-भवन,
देहली
ता० २-१०-३१.

सत्य-भगवान्

प्रार्थना

श्री सुबुधि जिनेश्वर वंदिये जी। प्रा०।

यह परमात्मा की प्रार्थना की गई है। उसमें भी यह भगवान् सुबुद्धिनाथजी की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में बतलाया गया है कि मैं भगवान् सुबुद्धिनाथ को वन्दना करता हूँ, क्योंकि उनको वन्दना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान् को वन्दना करना पाप का नाश करने का सरल उपाय है।

पाप को कौन नाश नहीं करना चाहता? लोगों को पाप का नाम भी बुरा लगता है तो उसका नाश कौन नहीं करना चाहेगा?

किसी घोर पापी, मनुष्यघाती या गौ की हत्या करने वाले को भी यदि पापी कह दिया जाय तो उसका हृदय दुःख का अनुभव करता है। इस प्रकार पाप करने वाला भी यही चाहता है कि उसे कोई पापी न कहे। जब पापी कहलाने की कोई इच्छा नहीं करता, तो पापों के नाश करने का उपाय मिल जाने पर, पापों के नाश करने में कौन देरी करेगा ? परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पाप का नाश करने के लिए परमात्मा को किस प्रकार वन्दना करनी चाहिए ? क्या केवल मस्तक झुका देने से अन्तरात्मा में लगे हुए पाप धुल सकते हैं ?

हमारे अन्दर अनेक त्रुटियों में से एक त्रुटि यह भी है कि हम अपनी अन्तरंग ध्वनि की ओर कान नहीं देते ? अन्तरात्मा जिस बात को पुकार-पुकार कर कहता है उसे सुनने और समझने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अगर मनुष्य अपने अन्तर्नाद की ओर ध्यान दे तो उसे प्रायः कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में विमूढ़ न होना पड़े। अन्तरात्मा से ध्वनि निकल रही है—'मैं पापी कहलाना भी पसन्द नहीं करता'। फिर भी मनुष्य अपनी शिक्षा की ओर आप ही ध्यान नहीं देता। यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। लोग पापी नाम भी नहीं धराना चाहते, फिर भी पाप करते चले जाते हैं। यह तो ऐसी ही बात है कि कोई 'कलमुँहा' कह दे तब तो बुरा लगे और अपने आप अपने मुंह पर कोयला पोतने में बुरा न लगे। यह कितनी बेढंगी बात है ? यह कैसे मिट सकती है ?

ज्ञानी कहते हैं—तू पापी कहलाने से घबराता है, 'पापी' संबोधन को तू अपने लिए गाली समझता है, पापी शब्द तुझे

अप्रिय लगता है, इससे यह पता चल जाता है कि तेरा आत्मा पापी नहीं बनना चाहता, वरन् धर्मी बनना चाहता है। मगर पापों का नाश करके धर्मी कैसे बन सकता है? धर्मी बनने का उपाय खोजना है तो भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जा।

अर्जुन ने कृष्ण से प्रश्न किया—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः॥

—गीता अ. ३ श्लो. ३६.

अर्थात्—हे कृष्ण! आत्मा किस की प्रेरणा से पापाचरण करता है? क्योंकि आत्मा की इच्छा तो पाप करने की है नहीं, फिर भी वह पाप की ओर जाता है, जैसे कोई जबर्दस्ती करके उसे पाप की तरफ घसीटे लिए जाता हो। जैसे कोई बैल को जबर्दस्ती गाड़ी में जोत देता हो या ऊँट पर बोझ लाद देता हो, वैसे ही आत्मा को क्या कोई जबर्दस्ती पाप में पटकता है? अगर कोई जबर्दस्ती करता है तो वह कौन है?

आत्मा पाप की ओर क्यों जाता है, इस संबंध में अनेक अभिप्राय हैं। किसी-किसी का कहना यह है कि ईश्वर की आज्ञा के बिना अथवा अल्लाह के हुक्म के बगैर कुछ भी नहीं होता। परमात्मा की मर्जी के बिना पेड़ का पत्ता तक नहीं हिलता है। अतएव जीवात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रेरणा उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही है।

कोई कहते हैं—ईश्वर पाप के प्रति प्रेरक नहीं है; काल के कारण आत्मा की पाप में प्रवृत्ति होती है। कभी-कभी काल

ऐसा आ जाता है तब आत्मा उसके निमित्त से पापाचरण करने लगता है। उस समय पाप का आचरण किये बिना छुटकारा ही नहीं मिलता।

किसी के मत से होनहार ही सब कुछ है। होनहार के इस मत को नियतिवाद कहते हैं। नियतिवादी कहता है—

यदभावि न तद् भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।

अर्थात्—जो नहीं होने वाला है वह हो नहीं सकता और जो होने वाला है वह हुए बिना रुक नहीं सकता।

इस प्रकार होनहार के वश होकर ही आत्मा पाप में प्रवृत्त होता है। कोई-कोई स्वभाव को ही प्रेरक मानते हैं। उनके विचार में जगत् में जो कुछ होता है सो स्वभाव से ही होता है। जैसे नीम की कटुकता स्वाभाविक है, इक्षु में मधुरता स्वाभाविक है, कांटे में तीखापन स्वाभाविक है, उसी प्रकार अन्यान्य लोक-व्यवहार भी स्वाभाविक हैं।

इस तरह लोग अपने-अपने विचार के अनुसार अनेक प्रकार से लोक-व्यवहारों की संगति बिठलाने का प्रयत्न करते हैं और उसे दृष्टान्तों से तथा तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण अर्जुन, श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है कि—हे कृष्ण! इस विषय में उक्त प्रकार के अनेक मतभेद हैं। अब आप बताइए, आपका मत क्या है? आपके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को पाप की ओर कौन ले जाता है?

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में कृष्णजी कहते हैं—हे अर्जुन! इस प्रकार कहने वाले लोग भूल में हैं। ईश्वर, काल, नियति

या स्वभाव के सिर पर पाप कराने का उत्तरदायित्व डाल देना और अपने आपको बचा लेना उचित नहीं है। इस वाचनिक बचाव से आत्मा वास्तव में पाप के दुष्परिणाम से नहीं बच सकता। पाप का फल भोगते समय इस प्रकार का कोई भी बहाना नहीं चल सकता। इसलिए किसी भी गंभीर समस्या को ऊपर से नहीं टाल देना चाहिए वरन् उसे हल करने के लिए वास्तविकता का विचार करना चाहिये।

जो लोग ईश्वर को ही पाप का प्रेरक मानते हैं, उन्हें अगर यह पक्का विश्वास है कि पाप हम नहीं करते वरन् ईश्वर हम से कराता है, तो मैं पूछना चाहता हूँ कि धर्म कौन कराता है ? ईश्वर बुरा कराता है तो भला कौन कराता है ? ईश्वर अगर बुराई की ओर घसीट कर ले जाता है तो भलाई की तरफ खींच ले जाने वाला कौन है ? अगर यह कहा जाय कि भलाई की ओर भी ईश्वर ही ले जाता है, धर्म भी ईश्वर ही कराता है, तब तो ईश्वर एक खिलवाड़ करने वाला ठहरा ! जब भला भी ईश्वर ही करता है तब वह बुरा क्यों करेगा ? वह भला ही भला क्यों नहीं कराता ? वह बुरे काम कराता भी है और बुरे कामों की निन्दा भी करता है, यह कैसा तमाशा है ?

कुरान देखो, चाहे पुराण पढ़ो; वेद को उठा कर देखो, चाहे बाइबिल का पाठ करो; चाहे जिनागम का पारायण करो, चाहे बौद्ध शास्त्र का स्वाध्याय करो, सर्वत्र बुरे कामों की निन्दा की गई है। जगत् के समस्त शास्त्र जिस आचरण को एक स्वर से निन्दा करते हैं, जिस आचरण का निषेध करते हैं, वही आचरण

ईश्वर कराता है, ऐसा कहना एकदम असंगत है। ऐसे कथन पर कोई विचारशील पुरुष विश्वास करने को तैयार नहीं हो सकता।

राजा अपराधी को दंड देता है, लेकिन दंड देने से पहले वह अपराधों की रोक भी करता है। अगर कोई राजा अपराधों की रुकावट न करे, यही नहीं वरन् अपराध करने के लिए प्रेरणा करे और फिर अपराध करने वाले को दंड देने को तैयार हो जाय तो उस राजा को कौन न्यायी राजा कहेगा ? ऐसा राजा हत्यारा कहलायेगा।

प्रश्न होता है कि आत्मा को दंड कौन भोगवाता है ? आत्मा पाप करने पर भी पाप का दंड नहीं भोगना चाहता। बल्कि वह दंड भोगने से बचना चाहता है। ऐसी स्थिति में दंड देने वाला कोई दूसरा अवश्य होना चाहिए ? वह कौन है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा में जैसे कर्म करने की शक्ति है, वैसे ही उसका फल भोगने की भी शक्ति है। जब आत्मा कोई कर्म कर लेता है तो उसका फल भोगना अनिवार्य हो जाता है। मदिरापान करना या न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु मदिरापान करने के पश्चात् उसका फल भोगना या न भोगना उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। फल तो उसे भोगना ही पड़ता है। मिर्च खाने पर जो कटुकता का अनुभव होता है वह मिर्च की ही कटुकता है। मुँह कडुवा करने के लिए ईश्वर कहीं से भाग कर नहीं आता। तात्पर्य यह है कि आत्मा के संयोग से कर्म में ही फल प्रदान करने की शक्ति का आविर्भाव होता है और तब आत्मा को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना

पड़ता है। फल का भोग कराने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पापाचरण में प्रेरणा करने के लिए अथवा उसका दण्ड भोगने के लिए यदि ईश्वर को बीच में लाया जाय तो ईश्वर की स्थिति बड़ी बेढंगी हो जाती है। एक आदमी चोरी करता है और उसे चोरी करने की प्रेरणा ईश्वर करता है तो आप स्वयं सोचें कि ईश्वर को चोरी करने का दोष क्यों नहीं लगेगा? अगर ईश्वर स्वयं चौर-कर्म का भागी हो तो क्या वह चोर को दंड दे सकता है? जो लोग ईश्वर को पाप का प्रेरक और दंडदाता दोनों मानते हैं उन्हें इस उलझन पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर को पाप में डालने वाला या कर्म का फल देने वाला मानने से बड़ी गड़बड़ी पड़ती है। ईश्वर निष्कलंक, निरंजन, निराकार, वीतराग और कृतकृत्य है। उसे इन सब झंझटों से कोई वास्ता नहीं है।

जो लोग काल को पाप कराने वाला मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि काल जड़ है या चेतन?

'जड़!'

तो जड़ को कर्त्ता मानना और चेतन आत्मा को कर्त्ता न मानना यह कहाँ का न्याय है? यह तो वही बात हुई जैसे कोई कहे कि मैंने अमुक की हत्या नहीं की, मेरी तलवार ने हत्या की है! काल अगर कर्त्ता हो तो एक साथ होने वाले सभी कार्य एक सरीखे होने चाहिए; क्योंकि काल एक रूप से सभी में कारण है। फिर जिस काल में एक आदमी एक बुरा कार्य करता

है, उसी काल में दूसरा आदमी अच्छा कार्य क्यों करता है ? अगर काल ही कर्त्ता है तो एक साथ प्रवृत्ति करने वाले दो आदमियों में से किसी एक को सफलता और दूसरे को असफलता नहीं मिलनी चाहिए। इसके उत्तर में अगर यह कहा जाय कि एक का प्रयत्न कार्यसिद्धि के अनुकूल होता है और दूसरे का नहीं, इसी कारण एक को सफलता मिलती है और दूसरे को सफलता नहीं मिलती; तब तो काल कारण नहीं रहता, वरन् प्रयत्न या पुरुषार्थ कारण मानना चाहिए।

यदि इस बाधा का समाधान करने के लिए यह कहा जाय कि जिस का भाग्य अनुकूल होता है उसे सफलता मिल जाती है और जिसका भाग्य प्रतिकूल होता है उसे असफलता मिलती है; तो ऐसा कहने पर काल की कारणता नष्ट हो जाती है। फिर तो काल कारण न होकर अदृष्ट ही कारण ठहरता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर 'काल कर्त्ता' है यह बात युक्ति से सिद्ध नहीं होती।

अब नियति अर्थात् होनहार की बात लीजिए। यह होन-हार क्या वस्तु है ? यदि पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगना ही होनहार है तब तो उन कर्मों को उपार्जन करने वाला आत्मा ही कर्त्ता सिद्ध होता है। अनाथी मुनि ने मगध के सम्राट् श्रेणिक से कहा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

— उत्तराध्ययन २०, ३७.

अर्थात्—आत्मा स्वयमेव अपने दुःखों और सुखों को उत्पन्न करता है और वही उसका नाश भी करता है। आत्मा स्वयं अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। पापाचार में प्रवृत्ति करने वाला आत्मा अपना दुश्मन है और सदाचार-परायण आत्मा अपना मित्र है।

जब कर्त्ता प्रवृत्ति करने के लिए उद्यत हो जाता है तो उसे सहायता भी मिल ही जाती है। कुंभार घड़ा बनाने का उद्योग करता है तब घड़ा बनाता तो वही कुंभार है, फिर भी मिट्टी, चाक, डंडा, डोर आदि कारणों से उसे सहायता मिलती ही है। मिट्टी स्वयं घड़े के रूप में पलट जाती है अतएव वह उपादान कारण है और चाक आदि घड़ा बनने पर भी अपना अस्तित्व अलग कायम रखते हैं इसलिए वे निमित्त कारण हैं। मगर स्मरण रखना चाहिए कि यह सब कारण हैं। इन सब की सहायता लेकर घड़े को गढ़ने की क्रिया कुंभार ही करता है। अतएव घड़े का कर्त्ता कुंभार है।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में कृष्णजी ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

—गीता अ० ३, ३७-४०

अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न हुआ महाभक्षी और महापापी काम और क्रोध आत्मा के भीतर घुसा हुआ है। उसकी प्रेरणा से आत्मा पाप करता है। आत्मा का यह काम और क्रोध ही शत्रु है।

जैसे धुँएँ से अग्नि आच्छादित हो जाती है, मैल से दर्पण मलिन हो जाता है और झिल्ली से गर्भ आवृत्त रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध आदि से आत्मा मलीन हो रहा है—आत्मा की शक्तियाँ छिपी हुई हैं।

हे अर्जुन ! आत्मा का यह काम रूपी नित्य का वैरी ईंधन से अग्नि के समान कभी तृप्त नहीं होता। इसने आत्मा की ज्ञान शक्ति को आच्छादित कर रक्खा है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम-विकार के अधिष्ठान—घर हैं। इनकी सहायता से यह आत्मा को मोहित करके उसके ज्ञान को ढँक देता है।

गीता के इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की सम्यग्ज्ञान-शक्ति को मलिन बना कर, आत्मा को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में एवं हिताहित के संबंध में मूढ़ बना कर काम-क्रोध ही आत्मा को कुमार्ग की ओर ले जाता है। अतएव ईश्वर आदि को पापाचार करानेवाला न मान कर अपने मलीन आत्मा

को ही उसका कर्त्ता मानना उचित है। यही बात उत्तराध्ययन शास्त्र में भी स्पष्ट शब्दों में कही गई है।

भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण क्यों ली जाती है ? उन्हें अपने जीवन का आदर्श क्यों बनाना चाहिए ? इसीलिए कि भगवान् सुबुद्धिनाथ ने प्रबल पुरुषार्थ के प्रताप से अपने काम और क्रोध को सर्वथा नष्ट कर दिया है। उनकी शरण ग्रहण करने से हमारे भी काम-क्रोध नष्ट हो सकते हैं। जिस महापुरुष ने काम-क्रोध पर परिपूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिसने अपनी आत्मा सर्वथा निष्काम और निष्कषाय बना ली है, उसका नाम भले ही कुछ भी हो, चाहे उसे विष्णु शब्द से कहा जाय, चाहे उसके लिए महादेव शब्द का प्रयोग किया जाय, अथवा उसे बुद्ध संज्ञा दी जाय, परन्तु वस्तु में कोई भेद नहीं होता। वरन्–

अष्ट कर्म नो राजवी रे मोह प्रथम क्षय कीन।
शुध समकित चारित्रनी रे परम क्षायक गुण लीन॥

जिसने मोह का पूर्ण रूप से क्षय कर दिया है वही हमारा इष्ट देव है। वही हमारा परमाराध्य परमात्मा है। जिसने मोह का क्षय करके क्षायिक चारित्र प्राप्त कर लिया है, जिसकी आत्मा केवल ज्ञान, केवल दर्शन और केवल चारित्र से देदीप्यमान है, उसका नाम कुछ भी हो, हम उसी की शरण में जाएँगे और उसी की शरण में जाने से हमारे पाप का नाश होगा।

इस प्रकार के गुणों से युक्त परमपुरुष की शरण लेने से पातकों का विनाश होता है; पर प्रश्न यह है कि उसकी शरण किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर

यह है कि परमात्मा के आदेश पर सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ चलना ही परमात्मा की शरण में जाना है। परमात्मा ने परमात्म-दशा प्राप्त करके अनन्त करुणा कर संसार के पथ-भ्रष्ट जीवों को परमात्मपद प्राप्त करने का उपाय बताया है, उन्होंने जिस विधि से वह परमोच्च अवस्था प्राप्त की है, उस विधि की प्ररूपणा शास्त्र में की गई है। जो पुरुष शास्त्र की उस विधि को अपने जीवन में उतार लेता है, सुदृढ़ संकल्प के साथ अपने जीवन को उसी विधि का आचरण करने के लिए अर्पित कर देता है, वह स्वयं उस अमित महिमामय परमोच्च दशा को प्राप्त कर लेता है। अतएव अगर तुम्हें परमात्मा की शरण में जाना है तो उसके आदेश का पालन करके मोह, अज्ञान और अदर्शन का विनाश करो। ऐसा करने पर फिर प्रत्येक प्रकार की सफलता प्राप्त कर सकोगे।

आप कहेंगे—आपने मोह का नाश करने को कह दिया, लेकिन हम संसार में हैं, नाना प्रकार के प्रपंचों में पड़े हुए हैं। अतएव जहाँ मोह नाश करने जाते हैं वहीं नया मोह पैदा हो जाता है ! इसलिए हमें भय है।

हम साधुजन जब महाव्रत धारण कर लेते हैं, तो फिर हमारे हृदय में मोह-ममता या संसार का भय नहीं रहता। भय उत्पन्न करने वाले कार्यों को त्याग देना, निर्भय बनने का उपाय है। जो हिंसक है वह डरेगा; लेकिन जिसने हिंसा का त्याग कर दिया है उसे क्या डर ? डर तो हिंसा में है और मुनि हिंसा त्याग चुके हैं। हिंसा त्याग देने पर भी अगर मुनि डरता है तो समझना

चाहिए कि अभी उसके महाव्रतों में परिपक्वता नहीं आई है। अतएव भय को नष्ट करने के लिए भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाओ।

भयभीत मनुष्य सोचता है—मेरे पास कोई शस्त्र नहीं है, यहाँ तक कि लकड़ी भी मेरे हाथ में नहीं है। मैं अगर वहाँ जाऊँ और कोई मुझे मार डाले तो मैं क्या कर सकूंगा ? इस प्रकार का भय हिंसा संबंधी है या अहिंसा संबंधी !

'हिंसा संबंधी !'

अहिंसा में भीरुता की गुंजाइश नहीं है। सच्चा अहिंसक कभी, किसी से भय नहीं खाता। अतएव मुनि को विचारना चाहिए कि—हे आत्मन् ! उसने हिंसा धारण की है और तू ने दया धारण की है। अहिंसा का अभेद्य और अमोघ कवच तेरे पास है। फिर तुझे किस का भय है ?

अगर यह कहा जाय कि हिंसा के सामने दया क्या कर लेगी ? तो इसका उत्तर यह है कि दया हिंसा पर विजय प्राप्त करेगी। जिन्होंने अहिंसा की उपलब्धि की है, जिन्हें अहिंसा पर अचल आस्था है, वह जानते हैं कि अहिंसा में अद्भुत और आश्चर्य-जनक शक्ति विद्यमान है। अहिंसा के बल के सामने हिंसा गल कर पानी-पानी हो जाती है।

हिंसक अगर मार डालेगा तब भी दया होने पर मारने वाले के प्रति प्रति-हिंसा का भाव उत्पन्न नहीं होगा। हिंसा का त्यागी

तो यही विचारेगा कि यह पुरुष नहीं मार रहा है वरन् हिंसा मार रही है। हिंसा का मैंने त्याग कर दिया है, फिर मैं डरूँ तो किससे ? इसके अतिरिक्त सच्चा अहिंसक आत्मवेत्ता होता है। वह जानता है कि आत्मा अजर-अमर है, आत्मा अविनश्वर है। आत्मा अमूर्त्तिक है। शस्त्र आत्मा के समीप भी नहीं पहुँच सकता। उसे साधारण मनुष्य की तो सामर्थ्य ही क्या, इन्द्र भी किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा सकता। मैं आत्मा हूँ—शरीर से भिन्न हूँ। शरीर नाशवान् है। शस्त्र शरीर को आघात पहुँचा सकता है; पर शरीर के आघात से मेरा क्या बिगाड़ हो सकता है ? शरीर आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों त्यागना ही है। सो वह अगर आज ही छूटता है तो छूट जाय। 'मैं' कभी मर नहीं सकता।

इस प्रकार विचार करके अहिंसक मुनि निर्भय विचरता है। वह कभी किसी से भय नहीं खाता। इसके अतिरिक्त अहिंसा में एक ऐसा बल होता है कि उसके सामने हिंसा स्वयं ही पराजित हो जाती है। अहिंसक पुरुष के आसपास रहने वाले जन्म के वैरी हिरन और सिंह भी जब आपस में मिलकर प्रेमपूर्वक रहते हैं, तो अहिंसक के प्रभाव से हिंसक के हृदय की शुद्धि होती है, यह बात सहज ही समझ में आ सकती है।

हे आत्मन् ! कदाचित् कोई तेरे शरीर को तुझ से विलग भी कर दे और तू उस विलग करने वाले पर प्रतिहिंसा की भावना जागृत न होने दे, तो निश्चय समझ कि तेरे लिए वह अपूर्व अवसर होगा।

गजसुकुमार और सोमल ब्राह्मण में से किस की विजय हुई थी ?

'गजसुकुमार मुनि की !'

इसी प्रकार मुनि के पास अहिंसा का अखूट खजाना है तो उसे भय किस बात का हो सकता है ? भय सत्य से होता है या झूठ से ?

'झूठ से ।'

जब झूठ से भय होता है, सत्य से भय नहीं होता, तो फिर तुम्हें क्या भय है ? तुमने तो असत्य का त्याग कर सत्य को अपनाया है !

कदाचित् तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नहीं जायगी; लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नहीं करता तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम अपने सत्य पर अटल रहो । असत्य के भय से सत्य को त्याग कर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नहीं है । तुम्हारी सत्य बात मानी नहीं जायगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हें सत्य पर पूर्ण विश्वास नहीं है । चिन्ता नहीं, अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नहीं करता । भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करें, खिल्ली उड़ावें या सत्य के कारण भयंकर यातना पहुँचावें, परन्तु भय मत खाओ । अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी न किसी कोने में सत्य के प्रति अश्रद्धा का कुछ भाव मौजूद है । सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है वह निडर है । संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती ।

एक आदमी पाँच और पाँच संख्याओं का जोड़ दस बता रहा है, पर दूसरा आदमी उसकी बात मानता नहीं है। तो इसमें उस सत्य कहने वाले को चिन्ता क्यों हो?

आप लोगों में सत्य संबंधी यह बात आगे निभती नहीं दिखाई देती। आप अपने लड़के को कोई सच्ची बात कहें और वह न माने तो आपका क्रोध उस पर क्यों भड़क उठता है? शास्त्र में सत्य को 'अबाधित' और 'भगवान्' बतलाया गया है। जिसमें सत्य है उसे भय नहीं है, क्योंकि सत्य 'अबाधित' है—बाधारहित है, और जहाँ बाधा नहीं वहाँ भय किस बात का? प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है:—

'तं सच्चं भगवओ।'

अर्थात्—सत्य भगवान् है।

सत्य भगवान् है, इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा गहो। सत्य पर श्रद्धा रक्खो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से और काय से सत्य की आराधना करो। सत्य भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

अगर आपके घर भगवान् आएँ तो आप उन्हें कौन-सी वस्तु न देंगे?

'सभी वस्तु देंगे!'

लेकिन ईश्वर आपके घर आया है, वह आपके आगे झोली पसार रहा है, फिर भी वह खाली जाता है; यह कभी देखते हो? प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य को भगवान् कहा है और सत्य सदा

आपके सामने आता है । फिर भी आप सत्य का सन्मान नहीं करते । आप उसे आश्रय नहीं देते । इसी कारण आपको ईश्वर नहीं मिलता है । ईश्वर सत्य है, इसलिए सत्य को मान देने से ईश्वर मिलेगा । चन्दनबाला ने सत्य का सन्मान किया था । उसे हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना दी गई थीं, हाथ-पैर उसके जकड़ दिए गये थे, सिर मूँड़ दिया गया था, फिर भी उसने चिन्ता नहीं की । जिस दशा में आप व्याकुल हो उठते, उस दशा में भी चन्दनबाला शान्त और सौम्य थी । वह तो यही कहती रही कि मूला ने मेरा अपमान नहीं किया है वरन् सन्मान किया है । मूला का हृदय, मेरे हृदय को पहचानता नहीं है । वह समझती है कि मैं उसकी सौत बन कर उसका सुख छीन लूँगी । यह मूला का भ्रम है । यह उसकी उल्टी समझ का परिणाम है । मूला की इस भूल के लिये मैं क्यों चिन्ता करूँ ? उसके भ्रम के कारण मुझे दुःख मानने की क्या आवश्यकता है ? मेरा हृदय निर्मल है । मेरे अन्तःकरण में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं है । मेरे लिए यही सन्तोष की बात है ।

आप पापी को देख कर घबराते हैं, उससे भय खाते हैं । लेकिन उससे भी आप चाहें तो बहुत-कुछ सीख सकते हैं, साथ ही उसे बहुत-कुछ सिखा सकते हैं । यदि आप में सच्ची और सुदृढ़ धर्मनिष्ठा है तो आपको पापी से न घबराना चाहिए, न घृणा करनी चाहिए और न उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए । अगर आपको पाप से सचमुच घृणा है तो जैसे आपको अपना पाप असह्य जान पड़ता है, उसी प्रकार अपने पड़ौसी का भी असह्य जान पड़ना चाहिए । आप पापी का उद्धार करके उसे

निष्पाप बनाने की चेष्टा कीजिए। यह आपकी सब से बड़ी धर्म-सेवा होगी। अगर पापी अपनी पाप-बुद्धि नहीं छोड़ता, यदि वह अपने पाप से चिपटा ही रहता है, तब भी तुम्हें निराश नहीं होना चाहिए। आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाला है। धर्म उसका स्वरूप है। पाप आत्मा के लिए विकार है। विकार से आत्मा कभी न कभी ऊबेगा ही। अतएव आशा को न त्याग कर उसके पापों का अन्त करने का प्रयास किये जाओ। कदाचित् तुम्हें सफलता मिलती न दिखाई दे तो क्या हानि है? बल्कि तुम्हारा तो एकान्त लाभ ही लाभ है। पापों का अन्त करने के लिए किया गया प्रत्येक प्रयास तुम्हारी धर्म-सेवा है और उस धर्म-सेवा से तुम्हारा कल्याण ही होगा। इसके सिवा अगर पापी तुमसे कुछ नहीं सीखता तो न सही। एक बात तुम पापी से सीख सकते हो—'पापी अपनी पाप-बुद्धि में जितना दृढ़ है, हमें धर्म-बुद्धि में उससे कुछ अधिक ही दृढ़ होना चाहिए।' अगर पापी अपना पाप नहीं छोड़ता तो मैं अपना धर्म कैसे छोड़ दूँ। इस प्रकार की दृढ़ भावना आई कि भगवान् महावीर आये समझो।

तुम किसी से भय न करके सत्य ही सत्य का व्यवहार रक्खो तो, तुम जान जाओगे कि मुझे ईश्वर मिल गया। ईश्वर की शरण में जाने का उपाय है—सत्य। सत्य ईश्वरीय विधान है। तुम ईश्वर की शरण ले लोगे तो फिर किसी प्रकार का भय न होगा। भय का स्थान तो असत्य है। सत्य का ही व्यवहार करना और किसी से भय न खाना ही मोह को जीतना कहलाता है। अपनी—आत्मीय वस्तु का त्याग करके परकीय वस्तु

को ग्रहण करना ही मोह कहलाता है। इसे छोड़ा और ईश्वर मिला।

मित्रो! अगर आप अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार को सत्य की कसौटी पर कसें, सत्य को ही अपनावें और सत्य पर पूर्ण श्रद्धा रक्खें तो आप ईश्वर की शरण में पहुँच सकेंगे और आप का अक्षय कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० २९-१० ३१.

नय-विचार

प्रार्थना

श्री सुग्रीव दृढ़रथ पिता, नन्दा थारी माय ॥

यह परमात्मा की प्रार्थना है। आत्मा, परमात्मा की प्रार्थना किस आशा से करता है, यह बात प्रार्थना करने वाले प्रार्थना में ही प्रकट कर देते हैं।

प्रार्थना बोलते और करते तो प्राय: सभी हैं, मगर प्रार्थना की पृष्ठभूमिका रूप भावना अलग-अलग होती है। भिन्न-भिन्न मनुष्य अपनी भिन्न-भिन्न भावना से प्रेरित होकर प्रार्थना करते हैं।

साधु लोग संसार त्याग कर परमात्मा के आधार पर ही निकले हैं। उन्होंने संसार के सुखों का जो त्याग किया है, सो उससे बढ़ कर कोई और वस्तु प्राप्त करने के लिए ही। अतएव उन्हें सोचना चाहिए कि परमात्मा की शरण में आकर हमें कौन-सी वस्तु ग्रहण करनी है। यह तो प्रकट ही है कि साधु होने पर संक्लेशकारी सांसारिक पदार्थों को वे छोड़ चुके हैं। न उनके घर है, न स्त्री, पुत्र, मित्र आदि। अतएव वे गृहस्थ की भाँति संसार की वस्तु तो चाहेंगे नहीं। अगर संसार संबंधी वस्तु की चाहना होती तो उसका त्याग ही क्यों करते ? फिर वे परमात्मा की प्रार्थना करके क्या चाहते हैं ?

साथ ही आप गृहस्थ लोग भी साधु के साथ मिल कर प्रार्थना करते हैं, इसलिए आपको भी विचारना चाहिए कि हम किस भावना से प्रार्थना करें ? और प्रार्थना करके परमात्मा से क्या चाहें ? यद्यपि आप गृहस्थ हैं, इस कारण कोई धन के लिए, कोई स्त्री-पुत्र आदि के लिए, प्रार्थना करते होंगे; लेकिन साधु के समीप जाकर और साधुओं के साथ परमात्मा की प्रार्थना करने पर आपकी भावना भी साधु की सी होनी चाहिए। आपको भी परमात्मा से वही माँगना चाहिए जो साधु माँगता है। संसार की विभूति तो आपको एक बार नहीं, अनेक बार प्राप्त हो चुकी है, और उसे आप त्याग भी चुके हैं। मगर संसार की वह विभूति सुख देने वाली साबित नहीं हुई। उस विभूति की बदौलत दुःखों की ही वृद्धि हुई।

वास्तविक बात यह है कि संसार में संयोग-मात्र नश्वर और दुःखप्रद है। जहाँ आत्मा किसी भी पर-पदार्थ के साथ अपना

संबंध जोड़ती है, वहाँ दुःख का अंकुर फूट निकलता है। जितने-जितने अंशों में संयोग की वृद्धि होती जाती है उतने ही उतने अंशों में दुःख की वृद्धि होती जाती है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अर्थात् संसारी जीव को दुःखों का जो तांता लगा रहता है उसका मूल संयोग है।

ऐसी स्थिति में सुख चाहने वाले प्रत्येक पुरुष को दुःख का कारण संयोग त्यागना चाहिए। जो संयोग से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते, उन्हें कम से कम इतना तो करना ही चाहिए कि वे संयोग की वृद्धि के लिए—धन-दौलत और स्त्री-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए—परमात्मा की प्रार्थना न करें। जब साधु के साथ परमात्मा की प्रार्थना की जाय तब तो खास तौर पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रार्थना में संसार की पौद्गलिक विभूति की याचना न की जाय और परमात्मा से वही माँगा जाय जो साधु-सन्त माँगते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि साधु-सन्त परमात्मा से क्या माँगते हैं? साधुजन परमात्मा की प्रार्थना करके कुछ भी नहीं चाहते, वरन् अपने आपको परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना चाहते हैं। साधु की याचना एक प्रकार का दान है और वह दान भी अनुपम एवं अद्वितीय है। वे अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ मिला देना चाहते हैं। इस प्रकार वे अपने आप को परमात्मा को सौंप देना चाहते हैं। मगर यह आत्मदान,

आदानहीन नहीं है। साधु अपने आपको सौंप कर बदले में कुछ लेते भी हैं। वे जो चीज लेते हैं वह है परमात्मा। इस प्रकार साधु एक ओर प्रार्थना में आत्मदान की भावना करते हैं और दूसरी ओर परमात्मा को प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

यहाँ दान और आदान—दोनों एक-मेक बन जाते हैं। साधु अपने आपको परमात्ममय बना लेना चाहता है और परमात्मा को अपने स्वरूप में अभिव्यक्त होता हुआ देखना चाहता है।

जिस प्रकार भारत आज पूर्ण स्वाधीनता चाहता है, बिना पूर्ण स्वतंत्रता के वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार साधु-जन परमात्मा से कोई छोटी-सी चीज नहीं माँगते। वे आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। अतएव आप गृहस्थ लोग भी परमात्मा से पूर्ण आत्मिक स्वतन्त्रता की चाहना करें। आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए ही परमात्मा का ध्यान और प्रार्थना करो।

इस प्रार्थना में कहा गया है—हे प्रभो ! तू त्रिभुवनधनी है। इसलिए तेरी जय हो। त्रिभुवन के धनी की जय तभी होगी जब त्रिभुवन में शान्ति हो। हे देव ! तू त्रिभुवनधनी है और साथ ही दया का सागर भी है। जितनी करुणा तुझमें है उतनी संसार में किसी में नहीं है। प्रभो ! मैं तुझे अकर्त्ता नहीं कहता, किन्तु कर्त्ता कहता हूँ। ज्ञानी जन कहते हैं कि—अनन्य भाव से भक्ति करने वालों—शुद्ध भाव से उपासना करने वालों और तुझमें आत्म-समर्पण करने वालों के लिए तू कल्पवृक्ष है। जैसे कल्पवृक्ष से इच्छित फलों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार, हे प्रभो ! तू भी वांछित फल का दाता है।

परमात्मा से जो माँगोगे वही मिलेगा। लेकिन माँगने से पहले यह निर्णय कर लो कि तुम्हारी इच्छा गुलामी में पड़ने की है या स्वतन्त्र होने की है ? अगर अन्तःकरण में, संसार-भ्रमण की—गुलामी की इच्छा जागृत हो तो समझ लेना कि तुमने अभी तक परमात्मा को नहीं पहचान पाया है। अगर तुमने परमात्मा से सांसारिक वस्तु माँगी, तब तो तुमने परमात्मा को किसी करामाती बाबा के समान समझा है—उसके वास्तविक स्वरूप का पता तुम्हें नहीं लगा है। जिस प्रकार करामाती बाबा की पूछ लोभी लोग करते हैं, संसार की चीज चाह कर तुमने ईश्वर की पूछ भी वैसी ही की है। लोग चमत्कार दिखाने वाले बाबा की तरह ईश्वर में भी करामात समझ कर उसे खींच-तान कर संसार में घसीट ले आना चाहते हैं। ज्ञानी जन कहते हैं कि ईश्वर को इस प्रकार संसार में खींचना अर्थात् उससे संसार की वस्तु चाहना भयंकर भूल है। ईश्वर से अगर संसार संबंधी सुख-सामग्री चाहते हो तो याद रक्खो, तुम पूर्ण ईश्वर को अपूर्ण बनाना चाहते हो। इससे ईश्वर का तो कुछ बिगाड़ हो नहीं सकता, तुम स्वयं अपना अहित कर बैठोगे।

कल के व्याख्यान में मैंने आत्मा को कर्त्ता बताया था और आज ईश्वर को कर्त्ता कह रहा हूँ। इससे शायद आप यह सोचेंगे कि क्या यह कथन परस्पर-विरोधी नहीं है ? मैं कहता हूँ, इस कथन में जरा भी विरोध नहीं है, केवल विवक्षा का भेद है। दुनिया परमात्मा को कर्त्ता मान कर उसमें करामात देखती है, अथवा जैसे कुंभार घड़ा गढ़ता है उस प्रकार ईश्वर को मनुष्य आदि चेतन-अचेतन जगत् का बनाने वाला मानती है,

या विभिन्न योनियों में जन्म देकर कर्म का फल भुगताने वाला मानती है; ईश्वर वैसा कर्त्ता नहीं है। ईश्वर को इस प्रकार कर्त्ता मानने वाले लोग भूल करते हैं। ईश्वर कर्त्ता किस प्रकार है, यह विषय समझने योग्य है।

जैन शास्त्र में सात नय माने गये हैं। शास्त्र में उनका अत्यन्त विस्तृत और गंभीर वर्णन है। अभी इतना समय नहीं है कि उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय, फिर भी संक्षेप में उन पर विचार किया जाता है।

मान लीजिये, एक आदमी हाथ में कुल्हाड़ी लेकर खंभ बनाने की लकड़ी काटने के लिए जंगल की ओर चला। घर से निकलते ही किसी ने उससे पूछा—'कहाँ जा रहे हो ?'

उत्तर मिलता है—'खंभ लेने जाता हूँ।'

यद्यपि पहला आदमी अभी लकड़ी काटने जा रहा है। उसने खंभ बनाने का विचार मात्र किया है। अब तक वह उस लकड़ी के पास भी नहीं पहुँचा है। फिर भी संकल्प उत्पन्न हो जाने मात्र से ही खंभ का व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार संकल्प करते ही खंभ की उत्पत्ति मान लेने वाला दृष्टिकोण 'नैगम नय' कहलाता है। इस नय के अनुसार वर्त्तमान में असत् और भविष्य काल में सत् होने वाला पदार्थ भी स्वीकार किया जाता है।

नैगमनय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। लोक-व्यवहार में सत्य का जो अंश रहता है, उसे नैगमनय विषय करता है। अगर नैगमनय को स्वीकार न किया जाय तो बड़ी

गड़बड़ी मचेगी। प्रारम्भ में तो प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति अव्यक्त ही होती है। फिर भी उसे मानना उचित है। उसे न मानना उचित नहीं है। अनेक क्रियाएँ, जो व्यक्त होती हैं, हमें और आपको दिखाई देती हैं, लेकिन कई क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जो सर्व-साधारण की पहुँच से परे होती हैं। जो क्रियाएँ सर्वसाधारण के लिए अगम्य हैं, उन्हें ज्ञानी जानते हैं। संसारी जीव प्रतिक्षण कर्मों का बंध करता है, कार्माण वर्गणा के अनन्तानन्त परमाणु समय-समय आत्मा के साथ संबद्ध हो रहे हैं और अनन्त परमाणुओं की निर्जरा भी होती रहती है, पर हमें उसका ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं होता, फिर भी ज्ञानी सब देखते हैं।

खंभ के लिए लकड़ी लाने वाले ने एक डग धरी है, तब भी वह यही कहेगा कि मैं खंभ लाने जा रहा हूँ। जब वह खंभ के लिए काटे जाने वाले वृक्ष से एक पाँव दूर होगा, तब भी यही कहेगा कि मैं खंभ लाने जा रहा हूँ।

अब वह पुरुष झाड़ काटने लगा। किसी ने पूछा—क्या करते हो? इसके उत्तर में वह कहेगा—मैं खंभ काट रहा हूँ। यद्यपि वह काटता है पेड़, पर खंभा बनाने के लिए। बिना प्रयोजन पेड़ नहीं काटता है। उसने खंभा बनाने का संकल्प कर लिया है, अतएव वह कहता है—मैं खम्भा काटता हूँ। यदि वह संकल्प के बिना ही झाड़ काटता होता तो सिर्फ यही कहता कि—मैं झाड़ काटता हूँ। लेकिन वह खंभा बनाने के लिए काटता है, इसलिए यही कहेगा कि मैं खंभा काटता हूँ।

झाड़ काटने के बाद वह लकड़ी को घड़ने लगा। तब उससे पूछा गया—'भाई क्या कर रहे हो ?' उसने उत्तर दिया—'खम्भा घड़ रहा हूँ।' यद्यपि वह लकड़ी घड़ रहा है, लेकिन खम्भे के उद्देश्य से। इसलिए वह यही कहता है—'मैं खम्भा घड रहा हूँ।'

यह एक उदाहरण है। इस प्रकार का लोक-व्यवहार सदा होता रहता है। इस व्यवहार को मिथ्या नहीं कहा जा सकता और न लोक में कहा ही जाता है। वरन् सभी लोग समय-समय पर इस प्रकार के व्यवहार किया करते हैं। इस व्यवहार की सचाई को जिस अभिप्राय से ग्रहण किया जाता है वह अभिप्राय नैगमनय कहलाता है।

जब तक लकड़ी का खंभे के रूप में परिणमन नहीं हुआ है, तब तक उसे खंभा कहना या समझना नैगमनय का मत है। नैगमनय, सभी नयों से विस्तृत विषय वाला नय है। वह सत् और असत् अर्थात् विद्यमान और अविद्यमान—सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। 'नैके गमाः-बोधप्रकारा यस्य स नैगमः' अर्थात् जिस नय के ज्ञान करने के अनेक प्रकार हैं, वह नैगमनय है। यह नय इतना विशाल है कि वह निगोदिया जीव को सिद्ध और चौदहवें गुणस्थान वाले जीव को संसारी कह सकता है।

उस आदमी ने लकड़ी घड़ कर खंभा तैयार कर लिया। अब उसे सब लोग जान और देख सकते हैं कि—यह खंभा है। अब उससे पूछा जायगा, तो भी वह उसे खंभा बतलाएगा। यह जो खंभा तैयार होगया है सो व्यवहार नय का है। व्यवहार नय

वाला खंभे की आकृति आदि देख कर ही उसे खंभा कहेगा, इस से पहले वह उसे लकड़ी कहेगा, पर खंभा नहीं कहेगा। यह दो नयों का अभिप्राय है।

तीसरा नय एकजातीय समस्त पदार्थों का संग्रह करके उन्हें एक ही रूप में देखता है। खंभा लकड़ी का भी होता है, पत्थर का भी होता है और लोह आदि धातुओं का भी होता है। लेकिन संग्रह नय के अभिप्राय से वह सब खंभे एक ही हैं, क्योंकि उन सब में समान रूप से 'खंभा' शब्द का प्रयोग होता है और सभी खंभों में एक-सा खंभे का ज्ञान भी होता है। इस प्रकार सामान्य को मुख्य करके पदार्थों में एकरूपता देखने वाला अभिप्राय संग्रह-नय कहलाता है।

विचार करने पर मालूम होगा कि नैगम नय का मत और व्यवहार नय का मत आपस में समान-सा है। जैसे-जैसे नैगमनय छूटता जाता है वैसे-वैसे व्यवहारनय आता जाता है। फिर भी दोनों में पर्याप्त भेद है। सत्ता और असत्ता—दोनों को विषय करने वाला नैगमनय है, परन्तु व्यवहारनय में वह विशालता नहीं होती। संग्रहनय एकजातीय समस्त पदार्थों को एक रूप में देखता है जबकि व्यवहारनय उस एकता को विविध रूपता प्रदान करता है। संग्रहनय सभी खंभों को एकरूप समझता है, पर व्यवहारनय उनमें भेद की कल्पना करता है। वह कहता है—यह खंभा लकड़ी का है, यह पाषाण का है और यह धातु का है। इस प्रकार संग्रहनय के विषय में विधिपूर्वक भेद करना अर्थात् भेद-दृष्टि से देखना व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय कहता है—खंभा अपने ऊपर टिकी हुई किसी चीज को सहारा देने के लिए है। इसलिए जब वह किसी का सहारा दे रहा हो तब वह खंभा है और जब सहारा न देता हो तब खंभा नहीं है। तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र नय भूतकालीन अथवा भविष्यकालीन पर्याय को गौण करके उसकी विवक्षा नहीं करता। वह तो सिर्फ वर्त्तमानकालीन पर्याय मात्र को ग्रहण करता है। वर्त्तमान काल में जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय की दृष्टि है।

उक्त चारों नय पदार्थ को विषय करते हैं, अतएव इन्हें अर्थ नय कहते हैं। अगले तीन नय शब्द नय कहलाते हैं। संसार में पदार्थों को समझने और समझाने के लिए मुख्य रूप से शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पदार्थों को समझने में शब्द प्रधान कारण है। किन्तु किस शब्द का पदार्थ के लिए किस प्रकार व्यवहार होना चाहिए अथवा किस दृष्टिकोण से शब्दों का व्यवहार होता है और वह शब्द-व्यवहार किस प्रकार संगत है, इस प्रकार का विचार शब्द-नय करते हैं। शब्द-नय तीन हैं:—(१) शब्द (२) समभिरूढ़ और (३) एवंभूत।

संसार में विभिन्न भाषाएं हैं और प्रत्येक भाषा में एक-एक वस्तु को बताने वाले प्रायः अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित होते हैं। किसी शब्दकोष को आप देखेंगे तो उसमें एक शब्द के समानार्थक अनेक शब्द मिलेंगे। जैसे इन्द्र को बताने वाले इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, देवराज आदि अनेक शब्द हैं। शब्दनय इन सब पर्यायवाची शब्दों का एक अर्थ ही स्वीकार करता है। इन्द्र शब्द

का जो अर्थ है, वही शक्र शब्द का है, वही पुरन्दर शब्द का है और वही देवराज शब्द का अर्थ है। 'इन्द्र' शब्द बोलने से जो अर्थ श्रोता के चित्त में प्रतिभासित होता है, वही अर्थ 'शक्र' शब्द बोलने से भी प्रतिभासित होता है। यद्यपि यह सब शब्द अलग-अलग धातुओं से बने हैं और वे धातुएँ अलग-अलग अर्थ वाली हैं। धातुओं का अर्थ अलग-अलग होने पर भी उनसे बने हुए इन सब शब्दों का अर्थ एक ही है। इस प्रकार विभिन्न शब्दों में एकार्थकता का जो व्यवहार होता है, वह शब्द की अपेक्षा से समझना चाहिए। धातुओं के अर्थ-भेद को ही एकान्ततः मुख्य समझा जाय तो एक अर्थ को बताने वाले दो शब्द नहीं हो सकेंगे। ऐसी अवस्था में जो आदमी किसी एक शब्द का अर्थ नहीं समझता, उसे समझाने के लिए दूसरे उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा और व्यवहार में बड़ी असुविधा होगी। लोक-व्यवहार में ऐसा होता भी नहीं है। पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में जो सूक्ष्म भेद होता है उसकी ओर व्यवहार में ध्यान नहीं दिया जाता और एकार्थकता पर ही ध्यान दिया जाता है। ऐसा न हो तो समस्त शब्दकोष भी अप्रामाणिक ठहरेंगे और वस्तुतत्त्व का समझना भी कठिन हो जायगा। अतएव जिस दृष्टिकोण से विभिन्न लिंग, वचन आदि के वाचक पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही समझा जाता है, वह दृष्टिकोण शब्दनय कहलाता है।

समभिरूढ़ नय, शब्दनय की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। उसके अभिप्राय से जिन शब्दों में लिंग का भेद हो, काल का

भेद हो, कारक या वचन का भेद हो, उन्हें एकार्थक नहीं माना जा सकता। लिंग आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भी भेद मानना चाहिए। जैसे दार, भार्या और कलत्र, यह तीन शब्द स्त्री के वाचक हैं। शब्दनय की दृष्टि में इन तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है, किन्तु इनमें लिंग का भेद है। 'दार' शब्द पुंलिंग है, 'भार्या' शब्द स्त्रीलिंग है और 'कलत्र' शब्द नपुंसकलिंग है। इस लिंग-भेद को मुख्य करके समभिरूढ़ नय इनके अर्थ में भी भेद को स्वीकार करता है।

एवंभूतनय, समभिरूढ़नय की अपेक्षा भी सूक्ष्म है। उसके अभिप्राय के अनुसार प्रत्येक शब्द क्रियाशब्द ही है। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का ही बोध होता है। जैसे 'गो' शब्द से गमन क्रिया का बोध होता है और 'अश्व' शब्द से आशु गमन अर्थात् शीघ्र चलने की क्रिया का ज्ञान होता है। इसी तरह समस्त शब्द क्रिया के ही वाचक हैं।

एवंभूत का कथन है कि जब प्रत्येक शब्द क्रिया का ही वाचक है तो, जिस शब्द से जिस क्रिया का बोध होता है उस क्रिया को करते समय ही उस वस्तु को उस शब्द से कहना चाहिये। जैसे 'गो' शब्द से गमन करने की क्रिया का बोध होता है, अतएव जिस समय 'गौ' गमन करती है उसी समय उसे 'गौ' कहना चाहिए। घोड़ा जब शीघ्र गति कर रहा हो तभी उसे 'अश्व' कहा जा सकता है। जिस समय गाय गति न करती हो और घोड़ा तेज चाल न चल रहा हो उस समय उन्हें 'गौ' या 'अश्व' नहीं कहा जा सकता। गमन न करने पर भी यदि गाय

को 'गौ' कहा जाय, तब तो मनुष्य या अन्य पशु आदि किसी को भी 'गौ' कह दिया जाना चाहिए। मतलब यह है कि जिस शब्द से जिस क्रिया का भान होता है, उस क्रिया को करते समय ही उस शब्द का व्यवहार होना चाहिये। अन्य समय में उस शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है। यह एवंभूत नय का अभिप्राय है।

यह सातों नयों का संक्षिप्त परिचय है। एक कवि ने कहा है—

तुम दर्शन मुझ व्हाला हो रे लाल।
दर्शन शुद्ध पवित्र रे वाले सर॥
दर्शन शब्द नये करे रे लाल।
संग्रह एवंभूत रे वाले सर॥

हे प्रभो! तेरा दर्शन मुझे अत्यन्त प्रिय है। तेरे दर्शन के समान मुझे और कुछ भी प्रिय नहा है। मैं शब्द नय से तेरा एक बार भी दर्शन कर लूँ, तो मेरा संग्रहनय का मत एवंभूत में चला जावे।

संग्रहनय के अभिप्राय से जीव-द्रव्य एक है। आत्मा और परमात्मा में वह भिन्नता नहीं स्वीकार करता। आत्मा अनादि काल से ही सिद्ध है।

इस स्तुति में कहा है—हे प्रभो! संग्रहनय के मत से तो मैं सिद्ध था, फिर भी मैं अनन्त बार पिटा, कुटा और दुःख भोगता फिरा। शब्द नय से एक बार भी तेरा दर्शन कर लूँ तो संग्रहनय एवंभूत बन जाय। अर्थात् संग्रहनय की अपेक्षा आप में और मुझ में कोई भेद नहीं है—अभेद है, सो यह अभेद एवंभूत में

परिणत हो जाय—मेरी क्रिया-परिणति सिद्ध-अवस्था के अनुकूल होजाय। इसी कारण, हे नाथ! तू मुझे प्रिय लगता है। मेरे पास सभी कुछ है, फिर भी मैं गड़बड़ में पड़ा हूँ। तेरे दर्शन से अर्थात् परमात्म-रूप का साक्षात्कार होने से गड़बड़ मिट जायगी।

मित्रो! जब शब्दनय से परमात्मा के दर्शन करने से सब तरह की उलझनें, सम्पूर्ण व्यथाएँ और सब कष्ट मिट जाते हैं, तो फिर परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं कर लेते?

हमारा काम तुम्हें उपदेश देना है। परमात्मा के दर्शन का मार्ग हम बता सकते हैं। लेकिन जब तक तुम स्वयं दर्शन करने के लिए तैयार नहीं होजाते तब तक तुम्हें केवली भी दर्शन नहीं करा सकते। उपदेश देकर हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं, मगर तुम्हारा कर्त्तव्य सुनने मात्र से समाप्त नहा हो जाता। उपदेश को अपने जीवन में उतारोगे तभी उपदेश सुनना सार्थक होगा।

मैंने कल कहा था कि परमात्मा कर्त्ता नहीं है। आत्मा ही कर्त्ता है। आज मैंने ईश्वर को कर्त्ता कहा है। इस कथन पर से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परमात्मा सब कार्यों का कर्त्ता है? अगर परमात्मा सचमुच कर्त्ता है तो कल मैंने उसके कर्तृत्व का क्यों निषेध किया था? इसका उत्तर नयों के विवेचन में आ चुका है। जब हमारा आत्मा, परमात्मा के दर्शन कर लेगा तो वही आत्मा परमात्मा बन जायगा। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि संग्रह नय के मत से आत्मा और पर-मात्मा में भेद नहीं है। दोनों में जो भिन्नता नजर आती है वह

तो सिर्फ व्यवहार में है। इस प्रकार आत्मा को कर्त्ता मान लेना ही एक अपेक्षा से परमात्मा को कर्त्ता मान लेना है।

निक्षेपों पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। जिनागम में संक्षेप और विस्तार की विवक्षा से निक्षेपों के भेद कई प्रकार से किये गये हैं। पर मध्यम विवक्षा से चार निक्षेप प्रसिद्ध हैं—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव।

एक लड़के का नाम 'महावीर' रख देने पर वह नाम-महावीर है। किसी भी पदार्थ में कल्पना से महावीर को स्थाप देने से वह पदार्थ स्थापना-महावीर कहलाता है। भगवान का जो आत्मा महावीर बनने से पहले, महावीर बनने वाला था उसे द्रव्य-महावीर कहते हैं। महावीर के गुणों से युक्त-वर्त्तमान पर्याय वाले महावीर भाव-महावीर हैं।

इसमें आगम और नो-आगम का भी विचार है। चौबीसवें तीर्थंकर नो-आगम से महावीर हैं और आगम से तू भी महावीर है। जितनी देर ऐसा ध्यान है, उतनी देर महावीर है और यदि वह ध्यान भंग न हो तो महावीर में तथा ध्यान करने वाले में कुछ भी अन्तर नहीं है। निश्चय नय से आत्मा जितने समय तक जिस गुण में टिकता है, उतनी देर वह वही है।

प्रार्थना में कहा गया है कि परमात्मा कल्पवृक्ष है और कर्त्ता है। वह जितनी देर के लिए तेरे ध्यान में आता है उतनी देर तक तुझ में अपूर्व शक्ति है। अतएव इस अपेक्षा आत्मा

और परमात्मा एक है। शुद्ध शब्दनय ध्याता, ध्येय और ध्यान को एक रूप में देखता है।

परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है, यह तो समझ में आया; मगर अब प्रश्न यह होता है कि परमात्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाय? एक पद में कहा है:—

तू जिस्म ज़िगर अरु जहाँ नहीं जानाना।
फिर क्यों नहिं कहता खुदा जो तू है दाना॥
किसने तुझको बाँधा जो बना तू बन्दा।
कौन पेंच का पड़ा है तुझ में फन्दा॥
गर तू ने अपने को जिस्म नहीं जानाना॥ तू जिस्म॰ ॥

हे पुरुष! यदि तू शब्दनय से परमात्मा का दर्शन करना चाहता है तो आलस्य छोड़ कर परमात्मा के ध्यान में लग जा। लेकिन दर्शन करने की इच्छा करने से पहले तू अपने आप से यह पूछ ले कि तू जिस्म (शरीर) तो नहीं है न? तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा अपने आपको शरीर से भिन्न शुद्ध सच्चिदानन्दमय नहीं जान लेगा, तब तक वह परमात्मा का ध्यान और दर्शन नहीं कर सकता। अतएव परमात्मा का दर्शन करने की अभिलाषा करने से पहले आत्मा को शरीर से भिन्न जान लेना आवश्यक है।

द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई थी। एक दिन वे अपनी शिक्षा की परीक्षा लेने लगे। उन्होंने एक कड़ाह में तेल भरवाया और अपने सब शिष्यों को एकत्र

किया। उस तेल के कड़ाह में एक खंभा खड़ा किया गया और खंभे पर चंदा वाला मोर का पंख लगा दिया गया।

इतना सब कुछ करने के पश्चात् आचार्य ने घोषणा की— तेलभरे कड़ाह में प्रतिबिम्बित होने वाले मोर के पंख को देख कर जो शिष्य पंख के चंदा को बाण से भेद देगा, उसी ने मेरी पूर्ण शिक्षा ग्रहण की है। वही परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ समझा जायगा।

दुर्योधन को अभिमान था। वह सब से पहले चंदा भेदने के लिए आगे आया। उसने बाण चढ़ाया। इसी समय द्रोणाचार्य ने पूछा—तुम्हें कड़ाह के तेल में क्या दिखाई देता है ?

दुर्योधन ने कहा—मुझे सभी कुछ दिखाई दे रहा है। खंभा, मोर-पंख, मैं, आप और मेरे आसपास खड़े हुए, मेरी हँसी करते हुए यह सब लोग दिखाई दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त मैं उस चंदा को भी देख रहा हूँ, जो मेरे बाण का लक्ष्य है।

दुर्योधन का उत्तर सुन कर द्रोण ने कहा—चल, रहने दे। तू परीक्षा में सफल न होगा। पहले तू अपना विकार दूर कर।

मगर अभिमानी दुर्योधन नहीं माना। उसने दर्प के साथ, मोर-पंख के चंदे को, तेल-भरे कड़ाह में देखते हुए बाण मारा। किन्तु वह लक्ष्य को भेद न सका। इसी प्रकार एक-एक करके सभी कौरव इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे।

कौरवों के पश्चात् पाण्डवों की बारी आई। युधिष्ठिर आदि चारों पाण्डवों ने अर्जुन को आगे करके कहा—हम सब की तरफ से अकेले अर्जुन ही परीक्षा देंगे। अगर अर्जुन इस परीक्षा

में उत्तीर्ण हुए तो हम सभी उत्तीर्ण हैं। अगर अर्जुन उत्तीर्ण न हो सके तो हम लोग भी अनुत्तीर्ण ही हैं।

आचार्य द्रोण पाण्डवों की बात सुन कर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—परीक्षा में इन्हें उत्तीर्णता मिले या न मिले, मगर इन पाँचों का ऐक्य प्रशंसनीय है। .

आखिर अर्जुन कड़ाह के पास आया। द्रोणाचार्य ने स्नेह से गद्गद होकर कहा—'मेरी शिक्षा की इज्जत तेरे हाथ है।'

अर्जुन ने विनम्रता प्रकट करते हुए कहा—गुरुदेव, अगर मैंने सच्चे अन्तःकरण से आपकी सेवा की होगी, आपका स्नेह सम्पादन किया होगा, तो आपकी कृपा से मैं उत्तीर्ण होऊँगा।

इस प्रकार कह कर अर्जुन ने तेल के कड़ाह में मोरपंख देखते हुए बाण साधा। द्रोणाचार्य ने पूछा—तुम्हें कड़ाह में क्या दीख पड़ता है ?

अर्जुन बोला—मुझे मोरपंख का चंदा और अपने बाण की नौंक ही दिखाई दे रही है। इसके सिवाय और कुछ भी नजर नहीं आता।

आचार्य ने कहा—तेरी तरफ से मुझे आशा बँधी है। बाण लगा।

गुरु की आज्ञा पाकर अर्जुन ने बाण लगाया। बाण लक्ष्य पर लगा और मोरपंख का चंदा भिद गया।

इसी विद्या के प्रताप से अर्जुन ने पांचाली के स्वयंवर में राधावेध साधा था और पांचाली (द्रौपदी) प्राप्त की थी।

चंदा बेध देने से पाण्डवों को तो प्रसन्नता हुई ही, साथ ही द्रोणाचार्य भी बहुत प्रसन्न हुए। अपने शिष्य की विशिष्ट सफलता से कौन गुरु प्रसन्न नहीं होता ?

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस एकाग्रता—एकनिष्ठा से या जिस ध्यान से अर्जुन ने मोरपंख का चंदा बेधा था, उसी एकनिष्ठा के साथ ईश्वर का ध्यान करने से आत्मा को ईश्वरत्व की प्राप्ति हो सकती है। बल्कि अर्जुन का लक्ष्य स्थूल था। परमात्मा मोरपंख के चंदा की अपेक्षा भी बहुत अधिक सूक्ष्म है। अतएव अर्जुन ने जिस एकाग्रता को प्राप्त किया था, उससे भी अधिक एकाग्रता परमात्मा का ध्यान करने के लिए अपेक्षित है। इतनी एकाग्रता प्राप्त करके जो ईश्वर का ध्यान करेगा उसे स्वयं ईश्वर बनने में देरी नहीं लगेगी। जब आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता, बल्कि आत्मा और परमात्मा भी एकमेक मालूम होने लगते हैं, तब एकाग्रता की पूर्ण सिद्धि होती है। इस प्रकार की एकाग्रता साधने वाला, फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो, परमात्मपद का अधिकारी बन जाता है।

आप लोग अपनी आत्मा से पूछिए कि आपको ध्यान करते समय क्या-क्या नजर आता है ? अगर परमात्मा के ध्यान में बाल-बच्चे अथवा चमकते हुए हीरे आदि नजर आये, या दुकान पर खड़े हुए ग्राहक दिखाई दिये तो समझ लेना कि अभी तक आपने एकाग्रता नहीं पाई है ! लक्ष्य जब तक ठीक और निश्चित न हो तब तक कार्य में सिद्धि नहीं मिल सकती। आज ध्यान की जो

गति है वह बद जाय और ऐसी हो जाय कि आत्मा एवं परमात्मा के सिवाय और कुछ भी दृष्टिगोचर न हो तो, जैसा अर्जुन का कार्य सिद्ध हुआ था, आपका भी वैसा ही सिद्ध होगा।

जो पद अभी सुनाया है उसमें कहा गया है कि यदि तुझे परमात्मा से भेंट करनी है तो हम पूछते हैं कि तू देह, कलेजा या दुनिया तो नहीं है ? अगर तू अपने आपको देह नहीं वरन् देही जानता है, देह का आसरा लिए चिदानन्दमय ब्रह्म समझता है, तब तो तुझे परमात्मा से भेंट करने में सफलता अवश्य मिलेगी।

देह और देही में उतना ही अन्तर है, जितना घर और घरवाले में होता है। जैसे घर मिट्टी का होता है—पार्थिव है, उसी प्रकार यह देह भी पार्थिव है—हाड़, चाम आदि की बनी हुई है। 'मैं देह नहीं हूँ' इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर, तू यदि समझदार है तो, यह क्यों नहीं कहता कि 'मैं खुदा हूँ !'

जब तक तुझे ईश्वर सरा लगेगा—ईश्वर को अपने से भिन्न समझेगा, तब तक तूने उसे नहीं जाना। ईश्वर और कुछ नहीं है, जिसमें उपाधि नहीं है वह आत्मा ही ईश्वर है, और जिसमें उपाधि है—बाह्य वस्तु का संसर्ग है वह ईश्वर नहीं है। अर्थात् जिस आत्मा ने अपने स्वभाव को प्राप्त कर लिया है वही ईश्वर है। जो विभाव में है, वह ईश्वर नहीं है। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूँ।

कहा जाता है, एक बार बादशाह ने अपने दरबारियों से पूछा—यहाँ अन्धे ज्यादा हैं या आँख वाले ?

दरबारियों ने कहा—जहाँपनाह, यह तो साफ़ दीखता है कि अन्धे थोड़े हैं और आँख वाले ज्यादा हैं।

बादशाह इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने यही प्रश्न वजीर से किया। वजीर बोला—अँधे ज्यादा हैं और आँख वाले कम हैं। आँख वाला तो हजारों-लाखों में कोई एक निकलेगा।

बादशाह ने कहा—तुम्हें अपनी बात सिद्ध करके बतानी होगी।

वजीर—ठीक है। मैं साबित कर दूंगा।

एक दिन वजीर बादशाह को जमना के किनारे ले गया। उसने वहाँ एक स्थान बैठने के लिए विशेष तौर से बनवाया था। उस स्थान पर बादशाह को तथा अन्य साथियों को बिठला कर वजीर अपने आपका स्वांग ले आया। जब वह स्त्री बन कर आया तब सब लोग उसे स्त्री कहने लगे। घड़ी भर स्त्री का स्वांग दिखाकर फिर वह पुरुष बन आया। तब सब लोग उसे पुरुष कहने लगे। इस प्रकार वजीर ने जितने स्वांग दिखाये, लोग उसे वैसा ही कहने लगे। अन्त में वजीर अपने असली रूप में आया। सब लोग कहने लगे—वजीर साहब तशरीफ लाये हैं।

वजीर ने बादशाह से कहा—हुजूर, देखिए, सब लोग अन्धे हैं कि नहीं ? मैं अभी कई-एक भेष बनाकर आया था परन्तु मुझे किसी ने नहीं पहचाना। कोई भी मेरा असली रूप नहीं देख सका। सभी लोग मेरे ऊपरी भेष के अनुसार अनेक नामों से

मुझे पुकारते रहे। अतएव इन सब को अन्धों की गिनती में गिनना चाहिए। अब यही लोग मुझे वजीर कह रहे हैं, इसलिए भी अंधे हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तब तो मैं मनुष्य हूँ और दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो मैं आत्मा हूँ। मैं स्त्री पुरुष या वजीर हूँ, तब भी क्या मनुष्य से भिन्न हूँ ? मगर लोग असलियत नहीं देखते। मेरे खयाल से जो असलियत देखता है वह आँख वाला है और जो असलियत नहीं देखता वह अन्धा है।

इसी दृष्टान्त के अनुसार लोग अपने आपको और दूसरों को स्त्री, पुरुष या बच्चा कहते हैं। मगर वास्तव में वह कथन ठीक नहीं है। स्त्री, पुरुष आदि तो आत्मा की औपाधिक पर्यायें हैं। आत्मा, ईश्वर है, यह बात ही सत्य है। लोग कड़े और कंठी आदि को सोना कहना गलत मानते हैं और सोने को कड़े कंठी आदि कहना सही समझते हैं। इसी प्रकार आत्मा को ईश्वर मानना झूठ दिखाई देता है और गरीब, अमीर, पुरुष, स्त्री आदि मानना सत्य मालूम होता है। इसी भ्रम के कारण आत्मा संसार के झंझटों में पड़कर ईश्वर से दूर जा पड़ा है।

शब्द नय के मत से ईश्वर का दर्शन करने पर आत्मा ईश्वर ही है। आत्मा को ईश्वर का ध्यान करके जागृत कर लेने पर परमात्मपद प्राप्त करने में विलम्ब नहीं लगता है।

ंसार संबंधी विकारों से बचने के लिए और आत्मा को परमात्मा के स्वरूप में परिणत करने के लिए, उपाधि का त्याग करो। निरन्तर चिन्तन, मनन, ध्यान आदि उपायों के द्वारा

आत्मा को आगे बढ़ाओ। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ सुप्त अवस्था में पड़ी हुई हैं, उन्हें जगाओ। ऐसा करने पर ईश्वर नजर आएगा।

अभी यह साधना तुम्हें कठिन और दुःसाध्य प्रतीत होती होगी, मगर ईश्वरत्व की प्राप्ति इतनी सरल नहीं है कि कठोर साधना के बिना ही वह प्राप्त हो जाय। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि पहले-पहल जो कार्य दुःसाध्य प्रतीत होता है, वही कार्य सुदृढ़ मनोबल से सुसाध्य बन जाता है। दृढ़ मनो-भावना के साथ जुट जाने पर कठिनाइयाँ अपने आप हल होती जाती हैं और आत्मा के बढ़ते हुए बल के सामने उन्हें परास्त होना पड़ता है। अतएव अपना जी कच्चा मत करो। कठिना-इयों के आने से पहले ही, उनकी कल्पना मात्र से भयभीत मत बनो। तुम्हारे भीतर जो शक्ति विद्यमान है वह साधारण नहीं है। उस शक्ति के सामने, विश्व की शक्ति टिक नहीं सकती। मगर उसका उपयोग करोगे तभी उससे लाभ उठा सकोगे। संसार के निस्सार और परिणाम में दारुण विषय-विकारों को तिलांजलि दे दो। इनकी बदौलत तुम चिरकाल से बड़ी–बड़ी व्यथाएँ भोगते आ रहे हो। इस समय अत्यन्त अनुकूल अवसर मिला है। इसे खोओ मत। इसका अधिक से अधिक सदुपयोग करके सदा के लिए सुखी बन लो। अपनी दृष्टि को बाहर की ओर से भीतर की ओर करो। देखो, तुम्हारी अन्तरात्मा में कितना आनन्द है, कितना ज्ञान है, कितना तेज है। अगर अन्तरात्मा की ओर एक दृष्टि से एक बार भी निहार लोगे तो अपने को कृतकृत्य मानने लगोगे। संसार नीरस दिखाई देगा और तब

तुम्हारे अनन्त कल्याण का मार्ग तुम्हें स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगेगा। उस मार्ग से परमात्मा की शरण में पहुँच कर स्वयं परमात्मपद के अधिकारी बन जाओगे।

महावीर भवन,
देहली
ता० २७–१०–३१